शब्द की साख

(भारत में रेडियो प्रसारण)

केशवचन्द्र वर्मा

प्रदीपन

प्रकाशन एकांश इलाहाबाद-२

वितरक :

लोकभारती प्रकाशन

१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-१

प्रदीपन प्रकाशन एकांश
६५, टैगोर टाउन
इलाहाबाद-२ द्वारा प्रकाशित
तथा
लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग
इलाहाबाद-१ द्वारा वितरित

●

© केशवचन्द्र वर्मा

●

प्रथम संस्करण : १९९०

●

सज्जा : इम्पैक्ट इलाहाबाद-१

●

जय हनुमान प्रिंटिंग प्रेस
१-सी, बाई का बाग,
इलाहाबाद-३ द्वारा मुद्रित

मूल्य : पचास रुपये

शांति मेहरोत्रा
और
हीरा चड्ढा को

भूमिका

किसी भी पुस्तक की भूमिका लिखना मैं समझता हूँ काफ़ी मुश्किल काम है, खास तौर पर यदि वह पुस्तक अपने मित्र द्वारा लिखी गई हो। सबसे बड़ी बात यह है कि जो पूरी पुस्तक में नहीं कहा जा सकता उसे भूमिका में कैसे बाँधा जाए ? और भी बहुत सारे प्रश्न हैं, जो इसी संदर्भ से जुड़े हैं। सभी प्रश्नों के उत्तर एक जगह न मिल सकते हैं, न ही मिलने चाहिए—अन्यथा जिज्ञासा कहाँ छाँह पायेगी ?

भारत में रेडियो प्रसारण पर इधर काफ़ी कुछ लिखा गया है, अधिकतर अंग्रेजी में। हिंदी में भी कुछ पुस्तकें आई हैं किन्तु श्री केशव चन्द्र वर्मा की पुस्तक उन सबसे अलग है। "शब्द की साख" में उन्होंने अनेक प्रश्न उठाये हैं, जो सचमुच चिंतनीय हैं। यह पुस्तक रेडियो विधा का शास्त्रीय पक्ष तो प्रस्तुत करती ही है शिल्प विधान के रूप में "करणीय" पक्ष को भी उजागर करती है। श्री वर्मा एक लम्बे समय तक आकाशवाणी के साथ रहे हैं। वे स्वयं कवि, लेखक, नाटककार, आलोचक तथा संगीतरसिक हैं। ऐसा मणिकांचन संयोग कदाचित् ही संभव होता है।

रेडियो और टी० वी० जनसंचार माध्यमों के रूप में बहुत सशक्त हैं। किसी भी विकासमान देश की बहुमुखी प्रगति के लिए संवाद संप्रेषण एक प्रकार का पूंजी-विनियोग है। यही कारण है कि जनसंचार माध्यमों के शिक्षण संस्थानों ने इस विषय को अपने पाठ्यक्रम में अनिवार्य कर दिया है। मेरा विश्वास है कि यह पुस्तक, रेडियो—टी० वी० से जुड़े लोगों के अतिरिक्त इस विधा के प्रशिक्षुओं तथा जनसाधारण को भी पसंद आयेगी। इसमें बहुत कुछ ऐसा है जो नया है—सुचिंतित है।

आकाशवाणी भवन
नई दिल्ली

अमृतराव शिन्दे
डाइरेक्टर जनरल
आकाशवाणी

निवेदन

रेडियो का माध्यम—टेलीविज़न के व्यापक प्रचार के बावजूद अब भी सारे संसार में अत्यन्त सशक्त प्रसारतंत्र माना जाता है। इसके तात्कालिक और दूरगामी दोनों ही प्रकार के प्रभावों से आज का विश्व न केवल पूरी तरह अवगत है—बल्कि किसी सीमा तक आक्रान्त भी है। रेडियो का प्रसारणतंत्र किसी एक भौगोलिक खण्ड को—उसके निवासियों के आचार व्यवहार और संस्कार को, उसके मनोभावों को—उसके कारोबार और क्रिया-कलाप को—जितनी तीव्रता से प्रभावित करता है उतना अन्य किसी प्रसार माध्यम के लिए सम्भव नहीं हो सका।

छापे की चीज़ें पढ़ने के लिए साक्षर होना तो जरूरी है ही, साथ ही छपी हुई चीज़ का द्रुतगामी होकर सहज ही उपलब्ध होना उस माध्यम की सार्थकता के लिए अनिवार्य शर्त है। रेडियो प्रसारण इन दोनों शर्तों की अनिवार्यता को नहीं मानता। बिना साक्षर हुए ज्ञान की उपलब्धि इसके द्वारा सम्भव है। अपनी सहज उपलब्धता और द्रुतगामिता में तो वह बेजोड़ है ही अब तो उसे बिजली के सहारे की भी जरूरत नहीं रही। ट्रांजिस्टर और इलेक्ट्रॉनिक युग ने रेडियो प्रसारण को अतिरिक्त क्षमता प्रदान कर दी है। अपनी प्रकृति में इसी निहित शक्ति, द्रुतगामिता और प्रामाणिकता की छाप लेकर चलनेवाले इस माध्यम को प्रभावोत्पादकता के लिए किसी अन्य का मोहताज होना नहीं है। स्वरारूढ़ शब्द की इस प्रसारणतंत्र में जो क्षणभंगुरता है बारम्बार की पुनरावृत्ति से उसका निवारण किया जाता है। इस प्रकार वह छापे के शब्द से होड़ लेने में आगे जाता है।

भारत में भी रेडियो के प्रसारतंत्र का विगत तीन दशकों में उल्लेखनीय विकास हुआ। अब भी उसकी पूरी क्षमता का बिस्तार नहीं हो पाया। यह देश अपनी भौगोलिक अखण्डता में विराट है। उसकी सम्पूर्ण दार्शनिक और सांस्कृतिक चेतना भी एक अक्षुण्ण परम्परा को विश्व के समक्ष

प्रतिभासित करती रही है। ऐसे विराट को किसी भी तंत्र के माध्यम से सम्पूर्णतः उजागर करने में हमेशा ही संभावनाएँ शेष रह जाती हैं। प्रसारण का तंत्र तो लिखित शब्दों की परम्परा में अपेक्षाकृत बहुत नया है। उसमें किया हुआ हर प्रयोग अनंत संभावनाओं के द्वार खोलता रहता है। इस तंत्र के संभावनाशील शैशव काल में यदि उसे सही दिशा मिल जाय तो वह अनेक क्रांतिकारी परिवर्तनों का अग्रदूत बनने में सक्षम होगा।

इस प्रसारणतन्त्र की क्षमता से आकर्षित होकर देश की अनेक प्रतिभाएँ प्रतियोगिताओं में हिस्सा लेकर इस माध्यम में कुछ करने का उत्साह लिए आती हैं। उनके पास अपने देश की महान परम्पराओं से जुड़कर कुछ नया करने की महत्वाकांक्षाएँ हिलोरें लेती रहती हैं। दुखद स्थिति यह है कि इतने सार्थक और सशक्त रचनाशील माध्यम के लिए हमारी शिक्षा प्रणाली में किसी भी स्तर पर प्राथमिक दीक्षा देने तक की कोई गुंजाइश नहीं है। देश की शिक्षाप्रणाली चलाने वाला शासनतन्त्र यद्यपि प्रसार माध्यम की शक्ति से वाकिफ़ है परन्तु उसे किसी भी स्तर पर पाठ्यक्रम का नियोजित अंग नहीं बना सका। फलतः जो भी नव आगन्तुक प्रसारण के माध्यमों में आता है, उसके पास शिक्षा की सीढ़ियों से गुज़रते हुए भी कोई पृष्ठभूमि नहीं होती। वह इस प्रसारणतन्त्र में आकर केवल अपने अनुभव से ही जो कुछ सीखता है वही उसकी पूँजी होती है। अनुभव बटोरने की इस प्रक्रिया में उसके जब ३०-३५ साल गुज़र जाते हैं और वह कुछ अपने माध्यम की शक्ति से साक्षात्कार कर चुकता है तब तक वह कार्यभार से अवकाश प्राप्त हो चुका होता है। इस प्रकार उसका समस्त अनुभव कार्यव्यापार में नहीं आ पाता जो आगे आने वाली नौजवान पीढ़ी को रोशनी दे सके। ऐसे लोगों की एक लम्बी जमात है जिनका हम कोई रचनात्मक उपयोग कर ही नहीं पाये। यह एक विडम्बना ही है।

मैंने भी ऑल इण्डिया रेडियो (आकाशवाणी) के तंत्र में लगभग पैंतीस साल गुजारे। इस दौरान मैंने अनुभवशून्य दिशाहीन किन्तु पूरी लगन के साथ काम करने वाले नवयुवकों को इस माध्यम में आते देखा। वे सीखना चाहते हैं। वे स्वर और शब्द के सार्थक रिश्तों को समझना चाहते हैं। वे इसके माध्यम से कुछ नया सृजन करने का सपना लेकर आते हैं। उनको कोई कुछ बतलाने वाला नहीं होता। जो बतला भी सकते थे वे अपने को अफ़लातून समझकर अपने अनुभवों को अलग-

थलग किये रहे। शायद उन्हें अपने अनुभवों की प्रामाणिकता पर भी सन्देह रहा हो। अस्तु! वे नौजवान तो वहीं रह गये जितनी पूँजी लेकर वे आये थे।

यह पुस्तक लिखने का मेरा कोई इरादा नहीं था लेकिन मेरे साथ काम करने वाले इन्हीं उत्साही नौजवानों ने मुझे प्रेरित किया कि प्रसारण के विभिन्न अंगों पर मैं पढ़-लिखकर, अपने अनुभवों से उन्हें संजोकर कुछ ऐसी सामग्री एकत्र कर दूँ जो उन्हें रेडियो प्रसारण के मूल ढाँचे से प्राथमिक तौर पर परिचय करा दे। ऐसे नवयुवक जो इस तंत्र की शक्ति और व्यापकता को समझते हुए इस माध्यम में जाना चाहते हैं, उनके लिए भी कुछ काम की बातें पुस्तक में बहुत स्थलों पर मिलेंगी। ऐसे नौजवान पहले रेडियो के सामान्य श्रोता ही बनते हैं। उनके लिए रेडियो का प्रसारणतंत्र इस पुस्तक को पढ़ने के बाद कुतूहल की वस्तु नहीं रह जाएगा। वे उन हरबे हथियारों से परिचित हो जाएँगे जिनसे लैस होकर उन्हें इस क्षेत्र में अपना कौशल प्रदर्शित करना है।

प्रस्तुत पुस्तक के विभिन्न अध्याय राष्ट्रीय पत्र-पत्रिकाओं में पिछले दो-तीन वर्षों में प्रकाशित होते रहे हैं। उन पर जैसी प्रतिक्रियाएँ मिली हैं उससे लगता है कि सामान्य पाठक, जो कि सामान्य श्रोता भी है— उसको इस विषय में बहुत कुछ जानना और कहना है। इस दृष्टि से भी यह पुस्तक प्रसारण के मूल ढाँचे में बदलाव का आग्रह करते हुए कुछ नये सवालों को भी सामने लाती है और इस तंत्र में आस्था रखने वालों को आगे बहस के लिए आमंत्रित करती है।

मैं अपने सुहृद आकाशवाणी के महानिदेशक श्री अमृतराव शिन्दे का आभारी हूँ जिन्होंने इस पुस्तक की भूमिका लिखने का अनुग्रह किया है। अपने उन सभी रेडियो के सहयोगियों का भी कृतज्ञ हूँ जिन्होंने पुस्तक लिखते समय मुझे अपने बहुमूल्य सुझाव दिये। आकाशवाणी इलाहाबाद का अत्यन्त आभारी हूँ जिसने मुझे कई ऐतिहासिक और मूल्यवान फोटोग्राफ इसमें शामिल करने में सहयोग किया। अनुजवत् सहयोगी श्री भगवानप्रसाद उपाध्याय का आभार इसलिए भी स्वीकार करता हूँ कि वे न होते तो यह पुस्तक तमाम आग्रहों के बावजूद लिखी न जाती और छपना तो बहुत दूर की बात होती। इति शुभम्।

केशवचन्द्र वर्मा

वसंत पंचमी, १९९० ६५, टैगोर टाउन, इलाहाबाद-२

अनुक्रम

१. शब्द की साख : रेडियो हम क्यों सुनें ? १७

२. आकाशवाणी : एक सिंहावलोकन २४

३. प्रसारण की सरकारी जकड़बन्दी :
जोखम या जिंदादिली ३५

४. संगीत और रेडियो का रिश्ता ४०

५. लोकगीतों के प्रसारण में मूल दृष्टि ४९

६. कल्पनाहीन सुगम-संगीत ५३

७. रेडियो नाटक : इसी तरह आखिर कब तक ? ५७

८. रेडियो फ़ीचर और वृत्त रूपक : चिप्पड़ कार्यक्रम ६२

९. ग्रामीण कार्यक्रम : समग्र दृष्टि का अभाव ६६

१०. ग्रामीण भाषा और बोली का प्रयोग ७१

११. ....लीजिए भक्ति संगीत का कार्यक्रम सुनिये ७६

१२. महिला कार्यक्रमों की सार्थकता ८२

१३. बच्चों के प्रोग्राम : कस्मै देवाय ? ८६

१४. युववाणी—शगल या संकल्प ९०

१५. परिवार नियोजन—विरोध की मानसिकता पर
जीत का उपक्रम ९३

१६. प्रोग्राम की उद्घोषणा : आकर्षक या घातक ? ९६

१७. रनिंग कमेन्ट्री—समर्थ वक्ता का चिरंतन अभाव १००

१८. रेडियो वार्ता के चौखटे : कितने ढीले, कितने कसे ? १०५

१९. घर बैठे कान आँख : रेडियो रिपोर्ट का शिल्प १०९

२०. कम्पेयरिंग क्या और कैसे ? ११३
२१. स्टाक कैरेक्टर का श्रोता के लिए महत्व ११७
२२. ओ० बी० : क्या है उसकी भीतरी शक्ति ? १२०
२३. रेडियो प्रोग्राम की योजना बद्धता या प्लैनिंग क्यों ? १२३
२४. स्थानीय रेडियो का नया शिगूफ़ा १२८
२५. स्टेशन डाइरेक्टर : निरंकुश या सजग सारथी ? १३३
२६. रेडियो और कलाकारों का रचनात्मक सम्बन्ध १३६
२७. रेडियो की खबरें : बासी उबाऊ और अविश्वसनीय १४३
२८. रेडियो की चाकरी : हाँ करी कि ना करी ? १४८

टिप्पणियाँ

विदेश प्रसारण सेवा १५५
मेलविल डी मेलो : कुछ यादें १५८
और आखिरकार १६२
चित्रावली १६५

शब्द की साख

शब्द की साख :
रेडियो हम क्यों सुनें ?

देखते-देखते रेडियो दूसरे नम्बर का प्रसार माध्यम बन कर रह गया। दूरदर्शन के सामने उसका कोई महत्व नहीं रह गया। वे जो सिर्फ़ रेडियो के प्रसारण सुनते हैं वे भी इस देश में घटिया या पिछड़े हुए लोग मानें जाते हैं—अच्छे शब्दों में कहिए तो 'अविकसित' या उदार होकर कहूँ तो 'विकास शील' ! यह इस देश की विडम्बना रही है कि इस देश का नेतृत्व ख़ासा अनपढ़ रहा है। उसमें भी नीम चढ़े करैले की भाँति जो भी 'सूचना और प्रसारण मंत्रालय' के सर्वोच्च शिखर पर रहे वे भी भारतीय संस्कृति और उसके मूल स्रोतों से कटे हुए लोग रहे। वे सूचना मंत्री रहे हों तो हों किंतु प्रसारण की मूल समझ में शून्य थे (हाँ डाक्टर बाल कृष्ण विश्वनाथ केसकर किसी कदर ज़रूर इसके अपवाद थे !!)। समझ की यही शून्यता पार्टी लाइन की 'जी हज़ूरी' तक सीमित रहती है और वह दूरदर्शन या रेडियो की अपनी क्षमता के विकास पर सोचने से सदा वंचित रह जाती है। रेडियो प्रसारण सुनने वाला—जिसकी संख्या आज भी भारत जैसे देश में बहुत अधिक है—कैसे एक सही भारतीय व्यक्ति बन सके, इस पर किसी का ध्यान नहीं है। वह शासक पार्टी का दुबारा 'वोटर' कैसे बन जाय यहीं तक हमारे प्रसारण-कर्णधारों का स्वप्न रहा है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए रेडियो जैसे सूक्ष्म माध्यम की उपेक्षा करके श्रोता को दर्शक में बदलकर ऐसे दृश्य विधान जुटाने का उपक्रम दूरदर्शन के माध्यम से किया गया ताकि औसत आदमी अपने दिमाग़ पर कम से कम बोझ डाल कर क्रमशः सोचने की जड़ होती

प्रक्रिया से—वह सब स्वीकार कर ले जो उसे निरंतर स्थूलतम रूप में दिया जा रहा है। यही विज्ञापन-संस्कृति के भीतर तक घुस जाने का रहस्य है—जो सहज दृश्य है, जो सहज श्रव्य है, जो सहज प्राप्य का सपना देता है—उसके लिए किसी अतिरिक्त मानवीय चेष्टा की ज़रूरत ही कहाँ उठती है! इस तरह टी. वी. ने रेडियो को मैदान से खदेड़ दिया।

शब्द की मौत वहीं हो गई। स्वर में, अक्षर में—उच्चरित शब्द में ब्रह्म का निवास माना गया है। उस शब्द से साक्षात्कार करना ही आत्म-साक्षात्कार करना है। वह किसी का मोहताज नहीं रहता। टी० वी० ने शब्द को मोहताज बना कर छोड़ दिया! बिना लुभावने चित्रों के शब्द का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रह गया—शब्द वहाँ केवल चित्रों की व्याख्या करने के लिए प्रयुक्त होता है! वह अपने आप में कुछ भी संप्रेषित नहीं कर पाता। उस शब्द की कोई साख नहीं बची। गली कूचे में वह शब्द कूड़े की तरह नालियों के पास जमा है। आचरण के खोखलेपन ने शब्द को मात्र पाखण्ड बना कर छोड़ दिया है—उस कूड़े से उसे बीन-बीन कर उठाने वाले और उन्हें दुहराने वाले भी उसी पाखण्ड के अंग बन गए। शब्द के साधक भी इसी पाखण्ड के शिकार हो गए।

रेडियो-प्रसारण का सही कीर्तिमान फिर से शब्द की प्रतिष्ठा को वापस ला सकता है—इस सत्य को प्रसारण-व्यवस्था में लगे हुए कार्य-कर्ता जिस क्षण समझ जायँगे, उसी समय से शब्द के पुनर्जागरण का आन्दोलन मानवीय कर्म का अंग बन जायगा। शब्द को उस स्तर तक ले जाना होगा जहाँ से वह प्रेषणीय होने के लिए ताप ग्रहण करता है। सत्य और शब्द का इसी ताप क्रम के ज़रिए घना रिश्ता बनता है। यह सत्य मनुष्य के मन में प्रायः सार्वजनिक रूप से प्रतिष्ठा नहीं पाता। वहाँ वह अक्सर संदेहों से घिर जाता है। वह सत्य तो उसके एकांत से उत्पन्न होता है और वहीं से वह शब्द के लिए ताप जाग्रत करता है। यही एकांत ही रेडियो प्रसारण की सबसे महत्वपूर्ण भूमि है जहाँ से वह 'अमुखरित-सत्य' को प्रतिष्ठित करता है। श्रोता के उस एकांत को कैसे आकर्षित किया जाय, कैसे उस एकांत को तापगर्भित किया जाय ताकि वह शब्द से उद्भूत ताप से संयुक्त होकर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष मानवीय आचरण का अंग बन जाय—रेडियो प्रसारण की यही सबसे बड़ी कसौटी है। रेडियो प्रसारण की इस क्षमता की तुलना किसी भी दूसरे माध्यम

से नहीं की जा सकती। शब्द की शक्ति की पहचान और विकास इसी में निहित है।

शब्द की शक्ति को अधिक सम्प्रेषणीय करने के लिए रेडियो तंत्र बहुत दिनों तक (और कहीं-कहीं तो अब भी!) श्रव्य को दृश्य का विकल्प बनाने की कुचेष्टा करता रहा है। ऐसा करने से उस माध्यम की शक्ति का विकास नहीं हुआ, उसका विद्रूप ही बना। घोड़े दौड़ाने का ध्वनि-प्रभाव उत्पन्न करके युद्ध के दृश्य का ख़ाक़ा खींचने की चेष्टा—पहले कुतूहल पैदा करती रही, बाद में बचकानी हरकत लगने लगी। इस तरह के तमाम स्थूल प्रभाव टी० वी० जैसे माध्यम के लिए ही छोड़ देना श्रेयस्कर होगा। उस होड़ में रेडियो प्रसारण कैसे खड़ा होगा—वह उसकी ज़मीन नहीं है। वस्तुत: श्रव्य को ही इतना सशक्त करना होगा कि मानवीय कल्पना उसे सहज आत्मसात् कर सके। यही शब्द की शक्ति का विकास है।

इस शब्द शक्ति को पूरी तौर से विकसित करने के लिए ज़रूरी है कि शब्द के उस तत्व पर अधिक आग्रह किया जाय जो केवल श्रव्य अंश से ही अपना रस ग्रहण करता है। सुन कर ही जिस पूर्णता की स्थिति में श्रोता लीन हो सकता, उस प्रभाव की खोज शब्द के भीतर ही करनी होगी। 'आहत' और 'अनाहत' नाद- दोनों प्रकार की श्रव्यता रेडियो प्रसारण सुलभ करता है। कहीं यह शब्द में मुखर होकर आता है तो कहीं वह केवल सारगर्भित मौन या 'पॉज' के रूप में सम्प्रेषित होता है। स्वर का वह तत्व वहाँ तिरोहित रह कर भी सार्थक रूप से अभिव्यक्त होता है।

इसी आधरभूत तत्व-स्वर पर आग्रह आते ही उसे समर्थ और गति-सम्पन्न बनाने का यत्न प्रारंभ हो जाता है। उसकी परीक्षा यही है कि वह सुनने वाले को आन्दोलित करे—उसके निस्पंद या बुझे हुए मन को 'क्षुब्ध' करे। यह कार्य संगीत से ही सहज संभव है। स्वरों के उस मूल केंद्रबिंदु में जहाँ शब्दों को अपने पूरे अस्तित्व के साथ तिरोहित होना ही एकमेव गति है, केवल संगीत की ही स्थिति है। वे विविधवर्णी स्वर नियमित अंतराल में अनुशासनबद्ध होकर क्रमिक रसानुभूति जाग्रत करते हैं। यह प्रक्रिया श्रोता के साथ उसके निजी एकांत में अधिक सक्षम रूप से घटती है। रेडियो प्रसारण इस एकांतिक प्रतिक्रिया को सुलभ बनाता है और इंद्रिय सुलभ बोध से बँधकर भी उस अनुभव को लाँघ

जाता है। संगीत प्रसारण का समय अब भी रेडियो पर बहुलांश में है लेकिन वह दिशाहीन है क्योंकि उसके पीछे मनोयोग और दत्तचित्तता का अभाव है। वह मात्र एक 'रोज़मर्रा स्थिति' है।

ये संगीत प्रसारण इस दृष्टि से संयोजित किए जा सकते हैं कि उनमें शब्दों को घुलाने की तेजस्विता बनी रहे। जहाँ शब्दों को भोंड़े ढंग से आगे-आगे चलाने और उनके द्वारा किसी किसी प्रचारात्मक कथ्य को श्रोता के ऊपर लादने की कोशिश की गई है—वहाँ वे शब्द तो अपनी मौत मर ही गए—संगीत की भी साख उतर गई है। आकाशवाणी से प्रसारित बहुसंख्यक तथाकथित 'लोकगीत' इसकी जीवंत मिसाल हैं। ज़ाहिर है—ऐसी स्थित में उच्चकोटि के भारतीय शास्त्रीय संगीत की लम्बी अवधि का प्रसारण-रेडियो माध्यम से स्वर की क्षमता को पुन-प्रतिष्ठित कर सकता है। वही उसे दृश्य की बाध्यता से भी मुक्त कर सकता है। स्वरों का यह सौन्दर्यबोध यदि श्रोता के मानस में सही ढंग से जड़ पकड़ता है तो अंततः वह उसकी शक्ति में ही संपुंजित होता है। इसलिए भी यदि प्रसारण की साख को निरंतर बनाए रखना हो तो अन्य तमाम 'मेल बेमेल किसिम-किसिम' के कार्यक्रमों को अलग छाँट कर—शुद्ध संगीत के मानक और स्तरीय कार्यक्रम करने को वरीयता देना ही होगा। इसमें से प्रयत्न करके 'फिल्मी संगीत' को जबरन हटाकर अन्य कार्यक्रमों (विविध भारती आदि !) में ले जाना पड़ेगा क्योंकि फ़िल्मी संगीत अपनी भूमिका के कारण अप्रत्यक्ष रूप से 'दृश्य' की आकांक्षा से ही अभिभूत रहता है।

सार्वजनीनता को अपनी परिधि से बाहर रखते हुए—सुनने वाले के निजी एकांत में कैसे प्रवेश पाया जाय—जहाँ वह उसकी ज़रूरत अकेले में पढ़े जाने वाले ख़तों की तरह महसूस करें—रेडियो प्रसारण की यही सबसे बड़ी चुनौती है। संगीत के उपरोक्त प्रसारण श्रोता की वैसी एकांत निष्ठा की ज़रूरत भले ही न बन पाएँ लेकिन वह श्रोता के भीतर घुसने का राजमार्ग ज़रूर खोल देते हैं। ऐसे ही खुले हुए रास्तों से—अनुभूति में डूबे हुए शब्दों की संरचना – कविता—भी श्रोता तक बड़ी सरलता से जा पहुँचती है। यह काम भी दूसरे माध्यमों के द्वारा कोई विशिष्ट उपलब्धि हासिल नहीं कर सका।

शब्द की साख की वापसी के लिए काव्य का बड़ा सार्थक उपयोग रेडियो का माध्यम कर सकता है। कविता चाहे पुरानी हो या नई– जो

अब केवल उत्तरोत्तर छापे के अक्षरों में कैद होकर मुर्दा होती गई है उसे मुक्त और जीवंत करके जनमानस में शक्ति स्रोत के रूप में रेडियो प्रसारण ही प्रतिष्ठित कर सकता है। यह निर्विवाद है। काव्य की अंतर्निहित शक्ति से साक्षात्कार करने के लिए उस एकांतिक श्रोता को न तो किसी कविता जलसे में जाकर भँड़ैती की तुकबंदियाँ सुनना अनिवार्य है और न उसे चुन-चुन कर अनगिनत काव्यसंग्रहों को पढ़ने की मुसीबत उठानी है। इस देश की संस्कृति की पहचान को रेखांकित करने वाली जो भी श्रेष्ठतम कविता हमारे पास पुरखों की थाती के रूप में पड़ी है, उसे हम नष्टप्राय गोदामों से निकाल कर आपसी संवाद का हिस्सा कैसे बना दें—यह रेडियो प्रसारण की दूसरी महत्वपूर्ण लुप्त-क्षमता है। जो पुराना है वह आज के नए को कैसे संदर्भ देता है, जो संस्कृतियों की तमाम उलट फेर और अनेक ताने बाने से बुना हुआ भारतीय मन है, वह कैसे चुनौती में सीनातान कर खड़ा हो पाता है—यह रहस्य तो उसी शब्द शक्ति के द्वारा ही श्रोता को अपने एकांत में प्राप्त हो सकता है। यही कार्य जब सार्वजनिक रूप से सम्पादित किया गया है, तब वह प्रचार की संज्ञा से घिर गया है। कविता की इस क्षमता का रेडियो प्रसारण में कभी पूरा उपयोग किया ही नहीं गया। वहाँ कविता-रचना कर्म में लगे श्रेष्ठ और घटिया दोनों ही तरह के कवियों को यथासंभव एक ही घाट पर 'दान-दक्षिणा-वितरण' तक सीमित रह गई। देश के श्रेष्ठ कवि जो आकाशवाणी से सम्बद्ध भी हुए, केवल अपनी ही छवि 'बनाने' में लगे रह गए—उन्होंने अपने पूर्ववर्ती कवियों की कृतियों को राष्ट्रीय मूल्यवान धरोहर की तरह मानकर श्रोता तक उसे सार्थक ढंग से ले जाने का प्रयास भी किया हो, ऐसा हमारी जानकारी में नहीं है। रेडियो से जुड़े सर्वश्री सुमित्रानन्दन पन्त, नरेन्द्र शर्मा, बच्चन, भगवतीचरण वर्मा, ब० भ० बोरकर या फिराक़ या प्रेमेन्द्र मित्र आदि ने कविता की पुनर्प्रतिष्ठा की कोई गहरी लड़ाई—आकाशवाणी के 'रोज़मर्रा तंत्र' में नहीं की। अफ़सरशाही उनके नामपट्ट अपनी दूकानों पर लटकाए रही।

श्रोता की उस एकांतिकता में शब्द की साख बनाने के लिए संगीत और काव्य के 'प्रोग्राम' नई दृष्टि से संयोजित किए जा सकते हैं किन्तु कुछ अन्य कार्यक्रम भी रेडियो के ज़रिए श्रोता तक अपनी अभिव्यक्ति पा सकते हैं। इनमें ग्रामीण कार्यक्रम भी बहुत महत्व का है। शब्द के

माध्यम से यहाँ धरती की वह गंध पकड़ कर गाँव में—और उसी मूल के अब शहरों में बसनेवाले श्रोता को दी जा सकती है जो अन्यत्र दुर्लभ है और मात्र किताबी ज्ञान है। गाँव की समग्रता को जितनी गहराई से उभारा जायगा, शब्द की उतनी ही साख बनेगी। यह लक्ष्य केवल खेती-बारी के सघन कार्यक्रमों से नहीं बन पाएगा। रेडियो प्रसारण के कुछ दूरगामी परिणाम हैं और कुछ अत्यंत तात्कालिक। दोनों का लक्ष्य भिन्न है। तात्कालिकता को कभी निरंतरता का पर्याय नहीं समझना चाहिए। सम्पूर्ण-लोक चेतना का एहसास उसकी निरंतरता में ही देखना होगा जो कि रेडियो के ग्रामीण कार्यक्रमों की लोकप्रियता का रहस्य रहा है। यह एहसास कुछ तात्कालिक-लक्ष्य की पूर्ति के हित में मारा जा चुका है। शायद इस पर फिर कुछ बहस उठे तो नई दृष्टि सामने आए।

रेडियो से प्रसारित होने वाली खबर-शृंखला ने सबसे घातक रूप से शब्द की साख मिटाई है। खबरों का प्रसारण रेडियो की उस सर्वसिद्ध क्षमता का प्रभावशाली अंश है जहाँ आम सुनने वाले की निजी एकांतिकता और बाहरी परिवेश की सार्वजनीनता का परस्पर साक्षात्कार और मुठभेड़ होती रहती है। जो कुछ उसके समाज में, देश में—उसके सम्पूर्ण परिवेश में घट रहा है वह किस प्रकार शब्दों के माध्यम से उसके निजी एकांत में हिस्सेदारी कर सकें—कैसे वह उन घटनाओं (?) से अपना लगाव स्थापित कर सकेगा—यह इसी तरह की श्रवण प्रक्रिया से संभव हो सकता है। सुनने की यही क्रिया और प्रतिक्रिया कहीं गहरे स्तर पर श्रोता के मानस को निर्मित करती है। यह काम छापे का समाचारपत्र भी करता है लेकिन वह अक्सर सार्वजनीन होकर करता है और प्राय: रेडियो प्रसारण जितना तत्काल भी नहीं। यदि यही वैज्ञानिक क्षमता की उपलब्धि-समाचार प्रसारण को तथ्यों से काटकर, या उसे विकलांग या विकृत करके प्रस्तुत करती है (भले ही 'सरकारी-मजबूरी' में की जाती हो !!) तो निश्चित ही उसकी ताज़गी भी निरर्थक हो जाती है। भारतीय समाचारों के प्रसारण, जो कभी स्तरीय और मानक-प्रामाणिक समझे जाते थे, पिछले दशक में अक्सर अपनी पक्षधरता और 'बेईमानी' के लिए हास्यास्पद की सीमा तक पहुँच गए। शब्द की साख तो ऐसे में गिरनी ही थी। ऐसी दशा में वही सुनने वाला एक बासी-किन्तु पानीदार अख़बार को पढ़कर अपनी एकांतिकता और सार्वजनिकता का बेहतर रिश्ता बना सकता है। वह उसी शब्द के माध्यम से केन्द्रीय धारा से

जुड़ता है। यदि लम्बी अवधि के लोकमंगल को ध्यान में रख कर शब्द की तटस्थ हैसियत बनाए रखी जाय तो श्रोता की निजी-एकांतिकता एक नपुंसक अकर्मण्यता होने से बच जाती है। शब्द का सही प्रसारण जीवंत नागरिकता से जुड़ता है और सही सोच के लिए उद्वेलित करता है।

आंज भी रेडियो प्रसारण की निर्बाध क्षमता और उसकी सीमाओं के भीतर से जाग्रत होने वाली ऊर्जा-विज्ञान की उपलब्धि और शब्द की प्राणवत्ता का निरंतर नया रिश्ता खोजती है। रेडियो प्रसारण किसी भी तरह टी० वी० का समानांतर विकल्प नहीं है। दोनों बहुत कुछ मिलते जुलते होने पर भी एक दूसरे से अपनी मूल प्रकृति के कारण भिन्न हैं। इस बात को जितनी जल्दी और जितने अच्छे ढंग से समझ लिया जाय, उतना ही कल्याणकर है। रेडियो प्रसारण की सूक्ष्मता को और भी बारीक और पैना बनाया जा सकता है—उसको स्थूलता के भोंड़ेपन से बाँधने की ज़रूरत नहीं है। टी० वी० और रेडियो प्रसार की होड़ में अब रेडियो का बटन बहुत कम घरों में खुलता है। जहाँ खुलता भी है वहाँ मजबूरी में खुलता है।—क्योंकि हम इस माध्यम की बेइंतिहा ज़रूरत के एहसास को सही सौन्दर्य बोध के पारखियों को भी महसूस कराने में पराजित हो गए हैं।

□□

आकाशवाणी : एक सिंहावलोकन

हमारे समय की सबसे बड़ी 'ट्रेजडी'—भयावह दुर्घटना है—शब्द की मौत। बोले हुए शब्द और लिखे / छपे शब्द दोनों मौत के घाट उतरते चले गये। उनके रचने वाले अपनी आँखों के सामने शब्द को एक निरर्थक वाक्-विन्यास के टुकड़े-टुकड़े होते देखते रहे। शब्द मरते गये। क्योंकि उनकी प्राणवत्ता सँभालने वाली अब कोई शक्ति शेष नहीं रही। शब्द की इस असमय मृत्यु के लिए इतिहास में यदि कोई अकेला संस्थान बहुत दूर तक जिम्मेदार ठहराया जायेगा, तो वह इस देश का ऑल इंडिया रेडियो है, जो कालांतर में परम्परागत विश्वसनीयता की प्रतीक 'आकाशवाणी' का विद्रूप बन गया।

आकाशवाणी अपने प्रसारण की तात्कालिक क्षमता के आधार पर जिस तरह कौंध कर शब्द की प्रभुतासम्पन्न स्वायत्तता स्थापित कर सकती थी, वह माध्यम के प्रति खोटा और बेईमान लगाव होने के कारण उत्तरोत्तर खोखली बकवासों का पुलिंदा बनती चली गयी। 'बहुजन हिताय' और 'बहुजन सुखाय' के नारे शब्दों के भीतर अनुगूंज पैदा करने वाले आचरण से अपनी सार्थकता पाते हैं—यह बात आकाशवाणी के कर्णधारों के दिमाग से बराबर निकलती ही चली गयी। शब्दों की हत्या होती चली गयी और आकाशवाणी के केन्द्र उन क्रमिक हत्याओं को दर्ज करने वाले पुलिस के थानों में बदल गये।

आजाद हिंदुस्तान के शुरुआती दिनों में शब्द की प्राणप्रतिष्ठा के लिए सही कोशिशें हुई थीं। पहले सूचना-प्रसारण मंत्री आचारणधर्मी कर्मठ

नेता सरदार वल्लभभाई पटेल ने प्रसारण क्षमता का सही मूल्यांकन करके स्नायु केन्द्रों में रेडियो स्टेशनों की स्थापना की नीति बनायी थी। किन्तु इस माध्यम को अपनी सांस्कृतिक विरासत से जोड़ते हुए भारतीय मानस को अस्मिता देने का प्रसारण मंत्री बालकृष्ण विश्वनाथ केसकर ने जिस तरह लगातार काम किया, वह भारतीय प्रसारण सेवा का 'स्वर्णयुग' आंका जायेगा। डॉ० केसकर को प्रसारण की कलाधर्मी नीति कार्यान्वित करने के लिए भी बालकृष्ण राव और फिर बाद में भी जगदीश चन्द्र माथुर की प्रशासनिक सेवा और रचनाधर्मी दृष्टि का सहयोग मिला। केसकर-माथुर की जोड़ी ने रेडियो प्रोग्राम का एक ऐसा अभूतपूर्व वातावरण तैयार किया, जिसमें एकाध वर्ष के भीतर ही हर भाषा के मूर्धन्य साहित्यकार कवि संगीतज्ञ नाटककार अच्छे गायक और अभिनेता सभी किसी-न-किसी रूप में रेडियो से जुड़ गये।

शिखरस्थ रचनाकारों ने देश की साहित्यिक, सांस्कृतिक और सांगीतिक परम्पराओं को आजाद हिन्दुस्तान के नवोन्मेष से जोड़ने की कोशिश की। तमाम ऐसे विशिष्ट व्यक्ति रेडियो केन्द्रों में सलाहकारों या कार्यक्रमों के 'प्रोड्यूसर' हो कर आ गये थे। प्रोग्राम के चयन, निर्देशन और संयोजन में उनकी आवाज ही सर्वोपरि थी। नौकरशाही और लालफीताशाही को प्रोग्रामों की वरीयता के समक्ष झुकना पड़ा था। यह जबरन झुकना नौकरशाही के गले के नीचे कभी नहीं उतरा। पर उन्हें पंडित सुमित्रानन्दन पन्त, भगवतीचरण वर्मा, नरेन्द्र शर्मा, अमृतलाल नागर, इलाचन्द्र जोशी, उदयशंकर भट्ट, फणीश्वरनाथ रेणु, आरसीप्रसाद सिंह, हंसकुमार तिवारी, हरिवंशराय बच्चन, अज्ञेय, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, रघुवीर सहाय, लक्ष्मीनारायण लाल जैसे तमाम लोगों के अनेक हिन्दी केन्द्रों पर जुड़ जाने से सहसा सारी रचनात्मक प्रतिभा को नकारना कठिनतर होता गया।

यही हाल मराठी, गुजराती, बंगला, तमिल, मलयालम, तेलुगु कन्नड़ आदि भाषाओं के रेडियो केन्द्रों में भी हुआ। संगीत के क्षेत्र में भी अनेक प्रतिष्ठाप्राप्त संगीतज्ञों ने रेडियो केन्द्रों पर सलाहकार या प्रोड्यूसरों के रूप में काम करना प्रारम्भ कर दिया। विद्वान (स्वर्गीय) ठाकुर जयदेव सिंह से ले कर पंडित मल्लिकार्जुन मंसूर, पंडित गजाननराव जोशी, पंडित रविशंकर, पन्नालाल घोष सभी रेडियो के संगीत को मानक कार्यक्रमों में परिवर्तित कर रहे थे। रेडियो से राष्ट्रीय प्रसारण

शुरू हुए, जो सभी केन्द्रों से एक साथ प्रसारित होते थे। कर्नाटक और हिन्दुस्तानी संगीत पद्धतियों के मिले-जुले कार्यक्रम हुए। १९५४ में पहला रेडियो संगीत सम्मेलन आयोजित हुआ, जिसमें देश के अनेक प्रतिष्ठित कलाकारों ने हिस्सा लिया। रेडियो में अखिल भारतीय स्तर के साहित्य समारोह भी आयोजित हुए। सर्वभाषा कवि सम्मेलनों की परम्परा चली। देश की संपूर्ण रचनात्मक प्रतिभा को रेडियो के द्वारा भारतीय पटल पर पहली बार इतने महत्वपूर्ण ढंग से उतारा गया कि भारतीय साहित्य, संगीत, नाटक और तत्सम्बन्धी कला दृष्टि से आम श्रोता का साक्षात्कार हुआ। रेडियो से प्रसारित होने वाले हर कार्यक्रम के मुख्य निर्देशक देश की मानी हुई हस्तियाँ थीं। महिला कार्यक्रम की निदेशिका कुसुमावती देशपांडे थीं। नाटक में पु० ल० देशपांडे भी आये थे।

पं० सुमित्रानन्दन पंत के निमन्त्रण पर मई, १९५० में मैंने आकाशवाणी के इलाहाबाद केन्द्र पर नौकरी शुरू की। रेडियो के उस आकर्षक माहौल ने मुझसे कॉलेज की अध्यापकी छुड़वा दी। पं० अमरनाथ झा हमारे वाइसचांसलर थे। अपने प्रिय छात्रों को अच्छी नौकरियों में भिजवाने में उनकी बड़ी रुचि रहती थी। रेडियो में जाने के मेरे निश्चय से वे खुश नहीं थे। बोले, "वहाँ क्या करने जा रहे हो? तमंचा जान का गाना करवाना ही क्या तुम्हारे जीवन का लक्ष्य है?" उनके सामने जवाब देने का साहस नहीं था, लेकिन इलाहाबाद में अपने साहित्यिक दोस्तों के बीच रहने के मोह और रेडियो के तत्कालीन वातावरण ने मेरे संकल्प में कोई बदलाव नहीं होने दिया। इलाहाबाद हिन्दी प्रसारण मेखला का अत्यन्त प्रमुख केन्द्र था—लखनऊ और पटना तक उससे जुड़े हुए थे। इलाहाबाद वैसे भी साहित्यिक गढ़ था। जो यहाँ नहीं रहते थे, वे भी बराबर आते रहते थे। पंत जी ने हिन्दी की अनेक प्रतिभाओं को रेडियो कार्यक्रमों में समो लिया—एक निराला नहीं आये, जिन्हें मनाने के बड़े प्रयास हुए। दूसरी महादेवी वर्मा बहुत बाद में रेडियो पर कार्यक्रम करने को तैयार हुईं। उन दिनों हिंदी साहित्य के उत्कृष्टतम कार्यक्रम यहाँ से प्रसारित हुए। संगीत के क्षेत्र में प्रयाग के अतिरिक्त काशी की पूरी जीवंत परम्परा थी, जिसमें उस्ताद बिस्मिल्लाह खां, रसूलन बाई, बड़ी मोती बाई, सिद्धेश्वरी देवी, तबलावादक कंठे महाराज अनोखेलाल, फिर बाद में काशी विश्वविद्यालय से सम्बद्ध हो कर आये पं० ओंकारनाथ ठाकुर, मैहर के उस्ताद अलाउद्दीन खां और उनके

शिष्यगण सभी केवल इलाहाबाद केन्द्र से जुड़े हुए थे। वहाँ काम करने में एक नये आनन्द का अनुभव होता था। हर दिन देश की किसी महान् विभूति के दर्शन आकाशवाणी केन्द्र पर होते ही थे। अनेक उद्भट् विद्वान केन्द्र पर प्रायः आते। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, फिराक, पं० हजारी-प्रसाद द्विवेदी, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० गोरखप्रसाद आदि रेडियो पर आते और नयी चर्चाएँ करते। नयी कविता के प्रारम्भिक दिन थे। उस आन्दोलन को भी रेडियो केन्द्र ने आगे किया। जो कुछ साहित्य में, संगीत में, कला में, इतिहास में, राजनीति में जीवन्त था, जो नये आन्दोलनों के रूप में आकार ले रहा था; वह सब आकाशवाणी के केन्द्रों से निरन्तर प्रतिध्वनित और प्रतिबिंबित हो रहा था। देश के सर्वोच्च नेता पं० जवाहरलाल नेहरू या डॉ० राजेन्द्र प्रसाद उन कार्यक्रमों में आ कर संस्कृति के उस प्रवाह से अपने को बराबर जोड़ते रहते।

यह सब बहुत दिन नहीं चल सका। सहसा केसकर युग समाप्त हो गया। वे चुनाव हार गये। उन्हें पिछवाड़े के रास्तों से भी प्रसारण मंत्रालय में नहीं लाया गया। फिर क्रमशः जो भी प्रसारण मंत्री हुए, उनके पास संस्कृति और कला सम्बन्धी कोई परिपक्व दृष्टि थी ही नहीं। इंदिरा गांधी ने इस मंत्रालय में कुछ करने का यत्न अवश्य किया, लेकिन वह अवधि बड़ी नगण्य रही। जगदीशचन्द्र माथुर भी डाइरेक्टर जनरल के पद से हटे। उनकी जगह पर फिर कभी कोई रचनाधर्मी दृष्टिवाला महानिदेशक नहीं आया। रचनाकारों को दोयम दर्जे की जगह पर बिठाने की कोशिशें हुईं। नौकरशाही का बोलबाला हुआ। रेडियो के प्रोग्रामों के स्तर से सहसा उदासीनता शुरू हो गयी। तमाम लेखकों और कलाकारों ने रेडियो छोड़ दिया। रेडियो को कलाधर्मी कार्यक्रमों से हटा कर सरकारी भोंपू बनाने की मशीनरी तेजी से चली और केवल एक व्यक्ति की छवि बनाने के लिए उसका इस्तेमाल बेहयाई के स्तर तक उतर कर होने लगा। सत्ता की आत्मश्लाघा और भोंपूनुमा बड़बोले-पन ने श्रोताओं के मन में एक विरक्ति और ऊब भर दी। देश में 'इमर्जेंसी' के दरम्यान आकाशवाणी से प्रसारित शब्द केवल हास्यास्पद हो कर रह गये और विश्वसनीयता के नाम पर लोग दूसरे देशों के प्रसारण सुनने लग गये।

इस ऊब का ही नतीजा था कि मुद्दतों बाद इस देश में विपक्ष का सरकार आयी—'जनता सरकार'। रेडियो-तंत्र के सामर्थ्य से सबको

सबक मिल चुका था। उसे फौरन स्वायत्त निगम (कार्पोरेशन) बनाने के लिए बड़े जोर से काम शुरू हुआ। 'वर्गीज़ कमेटी' के सुझावों पर अमल होना था, परंतु तत्कालीन सूचना प्रसारणमंत्री लालकृष्ण आडवाणी पार्टी हित में उस विधेयक को टालते रहे और तभी एक दिन 'तबेले की लतियाहुज' के फलस्वरूप जनता सरकार धराशायी हो गयी। रेडियो-तंत्र वहीं-का-वहीं रह गया। शासन बदला। रेडियो पर फिर सरकारी शिकंजा कसा, विपक्ष की चीं निकल गयी। वह रेडियो पर केवल सत्तापक्ष के प्रसारण मिनट गिन-गिन कर दुहराने में अपनी सर्थकता ढूँढ़ने लगा। रेडियो अपनी भोंपू-भूमिका फिर दुहराने लगा। रेडियो का प्रसारण माध्यम यदि एक स्वायत्त तंत्र बन गया होता, तो संभवत: इस देश का इतिहास कुछ और ही होता, जनचेतना में बुनियादी अंतर आया होता, लोकतंत्र की जड़ें गहरी और मजबूत होतीं और आम आदमी के जीवन में निर्भयता फिर एक सार्थक मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित होती। लेकिन लालकृष्ण आडवाणी ने अपनी संकुचित दृष्टि के नाम पर उसे होने देने का एक सुवर्ण अवसर खो दिया। इस लोकतंत्र का इतिहास शायद ही 'जनता सरकार' की इस भयावह चूक के लिए उसे कभी माफ कर सके।

सरकारी प्रचार-तंत्र जैसे-जैसे अधिक मुखर होने लगा, रेडियो केन्द्र सरकार के अन्य दूसरे दफ्तरों की तरह चलने में अपना कौशल दिखाने लगे। देश की सांस्कृतिक छवि एक ही केन्द्र के इर्द-गिर्द घूमने लगी। धुरी से श्रोता और प्रसारणकर्ता हट गया। वहाँ अफसर और नेता प्रतिष्ठित हो गया। रेडियो में प्रोड्यूसरों का ढाँचा तो बना हुआ था, लेकिन वे सब अकिंचन कृपापात्र हो कर रह गये।

प्रोग्रामों में अंतिम निर्णय के अधिकार अकसर ऐसे स्टेशन डाइरेक्टरों के हाथों में गये, जो किसी केन्द्रों में पहले स्टेनो के पद पर भरती हुए थे और फिर तरक्की करते-करते स्टेशन डाइरेक्टर या केन्द्र निदेशक बन चुके थे। ऐसों की संख्या कम नहीं थी, जो अनुभव या रचनात्मकता के क्षेत्र में निहायत बचकानी समझ रखने के बावजूद अपनी बात मनवाने के ज़ोम में प्रोग्रामों का स्तर लगातार गिराने में अगुवा हुए। सातवें और आठवें दशक तक तो प्रचार कार्यक्रमों के कलात्मक स्तरों को बलाए-ताक़ रख कर उन्हें पूरी बेहयाई के साथ चलाया जाने लगा। पार्टी और सरकार के कार्यक्रमों, नेताओं के दौरों आदि के रेडियो-प्रसारण

(कवरेज), जिस प्रसारण-नैतिकता की दुहाई दे कर उन्हें अलग-थलग किया जाता था, वे दिवारें एकदम ढह गयीं। अब जो था, वह खुल्लम-खुल्ला। 'पहले एक सूरत भी थी अब साफ वीराना किया।' घटिया किस्म की अवैज्ञानिक समझ ने तरक्की और तबादलों की राजनीति प्रसारण केन्द्रों पर शुरू कर दी।

इस नये माहौल को एक सैद्धान्तिक जामा पहनाने के लिए एक चर्चा यह उठायी गयी कि रेडियो का माध्यम मुख्यत: 'शिल्पधर्मी' है, 'कला-धर्मी' नहीं। इसके पीछे सभी तरह के लोगों के लिए रेडियो जैसी विशेष विधा की नौकरी खोल देने का आग्रह नौकरशाही की तरफ से उठाया गया। दस-पन्द्रह बरस में रेडियो-तंत्र ने अपनी जो एक साख बना ली थी, उसे तोड़ने के लिए यह जरूरी था कि इस प्रसारण-तंत्र में ऐसे आदमी भरती किये जायें, जो 'शिल्पधर्मी' होने के नाते अपने रचनात्मक विवेक को छोड़ कर हुक्मनामों के पिछलगुवा बन सकें। रेडियों से प्रसारित होने वाले कार्यक्रमों की बेहतरी पर चर्चा के बजाय बहस के मुद्दे अब मँहगाई भत्ते, वेतन आयोग की रिपोर्ट हो गए। अकसर जातिगत प्रतिनिधित्व भी इस भरती का एक आरक्षण प्रतिमान बनाया गया। प्रसारण और तदनुकूल कर्मचारी में पूरी तरह सामंजस्य न बिठा पाने की संशयग्रस्तता तमाम केन्द्र पर आश्चर्यजनक रूप से काम करने वालों की भारी कमी दिखाती है। एक प्रवक्ता के अनुसार, कुछ दिन पहले २७० प्रोग्राम एक्जीक्यूटिव की जगहें खाली थी (उनमें अब प्रोड्यूसर भी शामिल कर लिये गये हैं) ६० सहायक केन्द्र निदेशक की जगहें और २० से ऊपर केन्द्र निदेशक के पद भरे जाने थे। काम निकालने के लिए किसी भी तबके के आदमी को पकड़ कर उससे प्रोग्राम के काम करवाये जाते हैं। इस वक्त यह दुर्दशा अनेक केन्द्रों पर व्यापक रूप से सहज ही मान्य है। 'चाहे आदमी हों या न हों—प्रोग्राम किये जाओ' इसी में तरक्की के सब गुर छिपे हुए मान लिये गये। पिछले कुछ वर्षों में स्टाफ़ की भरती में राजनीतिक दबाव भी काम करने लगे हैं। ये नवउच्चपदासीन 'भस्मासुर' अपने आचरण से रेडियो की छवि और भी धूमिल करते रहे हैं। एक केन्द्र निदेशक की कारगुज़ारियों पर एक साल में दिल्ली से पाँच जाँच कमीशन आये—पर वाह! हर बार राज-नीतिक वरदान उनकी रक्षा ही करता रहा और वे परम निरंकुश हो कर रेडियो की छाती पर मूँग दलते रहे और तरह-तरह के प्रोग्रामों से

केवल यह सिद्ध करते रहे कि वे ही एक मात्र महत्वपूर्ण साहित्यकार और श्रेष्ठ नागरिक की तरह उन कार्यक्रमों में उभर कर आते हैं। आकाशवाणी में व्याप्त भ्रष्टाचार के अनेकों समाचार आये दिन सामने आते रहते हैं, पर इस तरह की निरंकुशता दबंग-दुराचारिता को नया कीर्तिमान देती रही है।

ढाँचे में मूल बदलाव कर देने और कार्यक्रमों को हुक्मनामों का पिछलगुवा बना देने के बाद फिर से प्रसारित होने वाले कार्यक्रमों के बारे में ज्यादा सोच-विचार करने की गुंजाइश नहीं रहती। लेकिन उन प्रोग्रामों की भी एक लंबी परम्परा है। उसे चलाते हुए सब कुछ कैसे एक खानापूरी में बदल गया, यह अपने में एक रोचक तथ्य है। प्रोग्राम वही हैं, कलाकार भी हैं, फिर भी सबका स्तर घटता कैसे चला गया? रेडियो में पहले संगीत और नाटक की प्रधानता थी, फिर भाषण यानी वार्ता का जोर हुआ। ग्रामीण कार्यक्रम, बच्चों के कार्यक्रम, महिलाओं के कार्यक्रम बहुत दिनों तक विसंगति की तरह 'अल्पसंख्यक' कार्यक्रम कहलाते थे। अब वे विशेष श्रोताओं के कार्यक्रम बने। स्कूलों / विश्व-विद्यालय के कार्यक्रम या युवा वर्ग के कार्यक्रम भी रेडियो ने अपनी विविधता में जोड़े हैं। अब तो उत्तर भारत के कई केन्द्रों से एक 'उर्दू प्रोग्राम' भी प्रसारित होता है, जो अकसर केवल एक खास सम्प्रदाय के लिए होता है। रेडियो की अब कोई अपनी भाषा नहीं रही। वह जो 'प्रसारण भाषा' कहलाती थी; वहाँ अब उर्दू है, हिन्दी है, अँग्रेजी है और... प्रोग्रामों का यही वर्गीकरण लगभग सभी केन्द्रों में चलता है। अकसर इसी के घोल दूसरी बोतलों में भी भरे जाते हैं।

संगीत के कार्यक्रम रेडियो के सबसे बड़े प्रसारण-अंश हैं—इनमें शास्त्रीय, उपशास्त्रीय, सुगम संगीत, लोकगीत, फिल्मी संगीत (गायन / वादन) सभी कुछ शामिल है। रेडियो का यही सबसे सशक्त और सफल प्रसारण है जो अन्य किसी दूसरे माध्यम से श्रोता की निजी जरूरत पूरी नहीं कर सकता। संगीत के प्रसारण कई दृष्टियों से राष्ट्रीय महत्व और प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके हैं, किंतु इस अंग को सुरक्षित और अधिक सफल बनाने के लिए पुरानी लकीर को पीटने के अलावा नया कुछ नहीं किया गया। संगीत के कार्यक्रमों की न तो सही परिकल्पना होती है और न उसे प्रस्तुत करने में कोई यत्न विशेष दीखता है। संगीत का सुरुचिपूर्ण-संस्कार आम श्रोताओं में कैसे पैदा किया जा सकता है, इसकी तरफ समुचित

ध्यान नहीं गया। लोकगीतों के नाम पर अनाप-शनाप 'विकास-गीत' (जो बहुधा सरकार प्रशस्ति गीत होते हैं) प्रसारित किये जाते हैं। रेडियो संगीत ने अपनी अलग पहचान बनायी है, तो सिर्फ इतनी कि उसकी एकरसता और उबाऊ आवृत्तियाँ सभी केन्द्रों से अब एक जैसी ही सुनी जा सकती है। संगीत प्रस्तुत करने वाले 'स्टाफ' (कर्मचारी) क्रमशः खत्म हो गये। कहीं तबला बजाने वाले नहीं है, तो कहीं तानपूरा छेड़नेवाले नहीं। फिर भी आकाशवाणी संगीत के प्रोग्राम धड़ल्ले से करता है। ग्रामीण कार्यक्रम सिर्फ खेती करने वालों का कार्यक्रम हो कर रह गया। वह समग्र ग्रामीण जीवन में परंपराओं से अपने को से जोड़ कर खड़ा नहीं हो पाता। गाँव की रूढ़िवादी समझ में बुनियादी बदलाव लाने के लिए अब कोई प्रयत्न नहीं। फलतः अनाज की बड़ी ढेरी लगाने वाला एक घटिया भारतीयमानस पैदा करने का भगीरथ प्रयास हुआ। शहरी संस्कृति को यही रास भी आता था। बच्चों और महिलाओं के कार्यक्रम सभी केन्द्रों से रस्म अदायगी की तरह होते हैं। किसी कार्यक्रम करने वाले से यदि पूछा जाये कि वे देश में कैसी नारियाँ या भावी बच्चे चाहते हैं तो शायद अपने कार्यक्रम की सार्थकता वे स्वयं ही समझ जायें। रेडियो नाटक अब टी० वी० के तमाम सीरियलों के सामने पिट गये। ध्वनि को दृश्य के विकल्प में लेने की मजबूरी हट चुकी है। इसे समझ लेना बेहतर होगा। इसी तरह रेडियो के वृत्त-रूपक भी अपना बहुत कुछ आकर्षण दृश्य माध्यम के कारण खो चुके हैं।

तेली के बैल की तरह लीक में घूमती प्रोग्रामों की इस चूँ-चरर-मरर चलती गाड़ी को बड़ी गहराई से बदलने और संवारने की जरूरत है। जो ऊपर बैठे हुए हैं, उन्हें प्रोग्रामों को सुनाने की 'फुरसत' निकालना चाहिए, उस पर बहस बढ़नी चाहिए। इसके लिए जिस विशेषज्ञ-योग्यता की जरूरत पड़ती है, उसका अर्जन कुर्सीधारियों को करना होगा, नहीं तो उनकी बात में कोई वज़न कभी नहीं आ सकेगा। अधिकतर ये राय देनेवाले अपनी पूरी सांस्कृतिक परम्परा और अधुनातन प्रकाशित सामग्री से अछूते रहते हैं। उनकी पढ़ाई और संस्कार पर रेडियो का स्टाफ ट्रेनिंग स्कूल अधिक जोर दे सकता है। दुर्भाग्य यह है यहाँ प्रसारण की सही शिक्षा-दीक्षा देनेवाला कोई संस्थान रेडियो से बाहर की दुनिया में है ही नहीं। इसीलिए किसी प्रोग्राम को तैयार करने का 'आनन्द' इन 'अदीक्षित' और सुचारु संस्कारों से कटे हुए लोगों ने कभी जाना ही

नहीं। वे कायदे-कानून के शिकार हैं और केवल अपने जीवन की इतिश्री इंडियन ब्रॉडकास्टिंग सर्विस में शामिल हो जाने को मानते हैं। जो दो-चार काम करनेवाले हैं भी, उन्हें अपने काम में पूरी आजादी नहीं है। उन्हें गलती कर के भी अपने प्रोग्राम का एक स्वरूप निर्धारण करने की छूट देनी होगी, तभी उसमें से एक कलात्मक कृति के जन्म की संभावना पैदा होगी। सामान्य दफ्तरी माहौल ने तमाम अच्छे कलाकारों को रेडियो के नित्यप्रति के कार्यक्रमों से काट दिया है। उन कलाकारों के प्रति अनादर और उदासीनता का भाव पनपने लगा है। रेडियो और कलाकार के बीच इस वातावरण ने केवल एक 'कांट्रैक्ट' या अनुबन्धपत्र भर का सम्बन्ध छोड़ दिया। उसमें जो निजी व्यक्तिगत गरमाहट थी, वह खत्म हो गयी।

रेडियो के कांट्रैक्ट की कहानी भी कम दिलचस्प नहीं। उसके पुराने रूप में तो सरकारी शोषण का वीभत्स रूप था। उसे न कोई पढ़ता था और न कोई मानता था, लेकिन वह कानूनी तौर पर था। बदल वह जरूर गया, लेकिन फिर भी सब कुछ एकांगी और एकपक्षीय ही रहा। जिसकी लाठी थी, अंततः भैंस भी उसी की थी। अब भी वही चलता है। रेडियो से मिलनेवाली कलाकारों को फीस या शुल्क बहुत दिनों तक तो सिर्फ पन्द्रह रुपये या बहुत हुआ तो तीस रुपये तक थी। यह फीस अब बढ़ गयी है, किन्तु न तो वह समयानुकूल है और न सेवानुकूल। इधर रेडियो की कमाई दिन दूनी रात चार गुनी हुई। विज्ञापन युग आया, साबुन, तेल, टार्च, बैटरी, खाद, साइकिल, रेडियो, टीवी खाना-पीना सभी कुछ विज्ञापित हो कर रेडियो पर पैसा बरसाने लगा। करोड़ों में बढ़नेवाली आमदनी से न तो प्रसारणकर्ताओं की फीस में उल्लेखनीय बढ़ोत्तरी हुई और न वर्तमान रेडियो केन्द्रों पर समुचित साधन और कर्मचारी ही उपलब्ध कराये गये। प्रोग्राम के स्तर उठाने की बात और उस पर अतिरिक्त व्यय से किसी को सरोकार ही नहीं रहा। हर ऐसी मांग का जवाब था—'जै-जैकार होनी चाहिए।' 'देश के जिस कोने में चुप्पी हो, वहाँ नये केन्द्र खोलकर जैकारा लगानेवाले नियुक्त करो। यही विकास है।' इस जैकारे में तथाकथित उपलब्धियों के वे आंकड़े थे, जो आम आदमी की जिन्दगी से यों ही नहीं जुड़े। रेडियो नकली आंकड़ों का प्रचार करते-करते खुद ही नकली बनता रहा। शब्द की विश्वसनीयता फिर नहीं लौटी।

इस गिरावट में रेडियो से आती हर घंटे के समाचार बुलेटिनों ने काफी हाथ बँटाया। अशुद्ध भाषा और ग़लत पढ़नेवालों ने अकसर सोने में सुहागे का काम किया। जो समाचार में कहा जाता, वह श्रोता के लिए या तो अर्द्धसत्य होता, या एकांगी सत्य होता या सत्य अथवा तथ्य पर मौन का पटाक्षेप होता। दबाये हुए समाचारों को जानने का कौतूहल तमाम विदेशी प्रसारण सुनने के लिए श्रोता को बाध्य करता रहा। राजनीतिक दबावों ने इन समाचारों की अच्छी दुर्गति की। समाचारों का सम्पादन सरीहन जब एक निश्चित धुरी के आसपास मँडराता हुआ दीखता है, तो उसे रद्दी की टोकरी में फेंकते कितनी देर लगती है!

अपने प्रोग्राम बनाने में, उन्हें संशोधित करने में रेडियो अखबारों की राय को 'ब्रह्मवाक्य' मानता रहा है। यह राय कुशल केन्द्र निदेशक कैसे बनवा लेता है, इसी में उसके पराक्रम की सराहना होती है। नतीजा यह है कि रेडियो केन्द्रोंवाले शहरों के अखबारों में धौंसवाली पीली पत्रकारिता का खूब बोलबाला रहता है और उन पत्रकारों के घटिया प्रोग्राम भी अकसर उस केन्द्र के कार्यक्रमों पर हावी रहते हैं। रेडियो ने कभी अपने निजी कलाकार-व्यक्तित्व बनाये ही नहीं (एकाध मेलविल डी मेलो के अपवाद छोड़ कर) न तो रेडियो के विशिष्ट प्रसारणकर्ता, न रेडियो कलाकार, न रेडियो लेखक--ये सब समाज के जीवित अंग कहाँ बन पाये? इन्हें कभी बनने ही नहीं दिया गया। शायद इसके पीछे उसी खतरे का भय था कि दूसरे छूटे हुए वर्ग को दोयम दर्जे का आदमी न मान लिया जाये। रेडियो में दोयम दर्जा किसका हो? यह विवाद कई स्तरों पर उठता रहा। अब इस विवाद ने तूल पकड़ कर रेडियो में प्रोग्राम करनेवाले और वहाँ की प्रसारण तकनीक संभालनेवाले इंजीनियर वर्ग में एक जबर्दस्त तनाव पैदा किया है। ये एक सम्यक कार्यक्रम के पूरक अंग न हो कर आपसी तनाव और टांगघसीटी राजनीति में ही पड़े रहते हैं। स्टुडियो और उनके उपकरणों का इस्तेमाल केवल इंजीनियरों की कृपा पर निर्भर है। कलाकारों और प्रोग्राम कार्यकर्ताओं में अकसर उठे विवादों में यह भीतरी काटपेंच बड़ी अहम भूमिका निभाता है। इस नीति से उपजी विसंगतियों का सामना करने में प्रसारण-तंत्र का हर सत्ताधारी कतराता है।

रेडियो में सुधार के लिए तमाम कमीशन और कमेटियाँ बैठीं और

अंततः फिर वही ढाक के तीन पात। घूम-फिर कर केन्द्र के निदेशक की निजी समझ और उसकी संस्कृति की पृष्ठभूमि ही प्रोग्रामों में उलटपुलट कराती रही है। उनके अधीनस्थ चाकर अपने अफसर को खुश करने के लिए चाहे-अनचाहे वही सब करते रहे हैं। टीवी के आ जाने से रेडियो प्रसारण में निरर्थकता की चर्चा चल पड़ी है। पर वस्तुतः ऐसा नहीं। इस देश का दुर्भाग्य है कि यहाँ पर रेल और सड़क दोनों सामान्तर दौड़ती हैं, जबकि सड़कों को सिर्फ रेल से जोड़ने का काम करना चाहिए था। रेडियो की अपनी प्रसारण क्षमता और सामर्थ्य का पुनर्मूल्यांकन टीवी प्रसारण के परिप्रेक्ष्य में करना होगा। खास तौर से शास्त्रीय संगीत और गाँव के कोनों में सुने जानेवाले ग्रामीण कार्यक्रमों के सन्दर्भ में टीवी और रेडियो को जोड़ते हुए रेडियो की अपनी क्षमता आंकनी होगी। टीवी की जूठन दोहराने में सद्गति नहीं होगी। भारत की क्षेत्रीय संस्कृति कैसे देश की मूल अंतःसलिला धारा से जोड़ती है और कैसे उसे वह वंदेमातरम के सूत्र में बांधती है, इसे रेडियो प्रसारण ही धीमी गति से किन्तु सार्थक ढंग से कर सकता है। भारतीय मनुष्य को अपने को पहचानने का अवसर देना रेडियो के ही बूते का है। उस सार्थकता को उसे समय रहते रेखांकित कर लेना चाहिए, ताकि रेडियो अपने को कबाड़ी की दुकान में फेंके जाने से बचा सके।

□□

प्रसारण की सरकारी जकड़बन्दी : जोखम या ज़िंदादिली ?

देश में आकाशवाणी (और दूरदर्शन भी) सरकारी नियन्त्रण में रहे या उसे एक स्वतंत्र स्वायत्त निगम बना दिया जाय यह बहस अब काफी पुरानी हो चुकी है। लोकतंत्र की कसमें खाने वाली हर राजनीतिक पार्टी किसी स्तर पर अपने चुनावी घोषणा पत्रों में या वोट माँगने की प्रक्रिया में सीधे या प्रकारान्तर से यह कहती रही है कि वे या तो इस माध्यम को सरकार निरपेक्ष स्वायत्तता दे देगी या उसकी कार्यप्रणाली में किसी तरह की सत्ता की दखलन्दाजी नहीं होने देगी। इस तरह के अनेक वादे हुए और फिर सत्ता सँभालने वाले शासन ने अपने प्रचार के मोह से कभी मुक्ति नहीं पायी। इस देश में प्रसारण की सारी व्यवस्था पूरी तरह से सरकारी जकड़बन्दी में कार्य कर रही है।

आज विश्व में रेडियो प्रसारण का जाल फैला हुआ है। कई जनतांत्रिक देशों में प्रसारण की व्यवस्था सरकार से स्वतंत्र स्वायत्त निगम के रूप में काम करती हैं। अमरीका तथा इंगलैण्ड आदि देशों में यही व्यवस्था है। अमरीका में तो कई प्रसारण चैनल साथ-साथ चलते रहते हैं और उनमें आपस में प्रतियोगिता भी रहती है—किन्तु 'वॉयस ऑफ अमेरिका' अमरीकी दृष्टिकोण का प्रतीक—परिचायक है। ठीक उसी प्रकार 'ब्रिटिश ब्राडकास्टिंग कार्पोरेशन' भी इंग्लैण्ड की तमाम नीतियों का प्रचार करता है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि बी० बी० सी० (ब्रिटिश ब्राडकास्टिंग कार्पोरेशन) एक ओर जहाँ सरकारी नीतियों का प्रवक्ता है वहीं दूसरी ओर वह सरकार की नीतियों से मतभेद रखने का

भी अधिकार रखता है। कई ऐसे अवसर आये हैं जब बी० बी० सी० ने अपने प्रसारणों में सरकार की घोषित नीतियों का विरोध किया है और उसे जन समर्थन मिला है। यह ब्रिटेन के लोकतंत्र के ढाँचे की एक विशेषता है। इसके विपरीत सरकार नियंत्रित कम्युनिस्ट देशों के रेडियो प्रसारण केवल सरकारी प्रवक्ता ही होकर बोलते हैं। वहाँ किसी तरह के मतभेद की गुंजाइश नहीं रहती। चीन के या सोवियत रूस के प्रसारणों में केवल सरकारी नीति की घोषणा या पुनरोक्तियाँ ही सुनाई पड़ती हैं।

मूल प्रश्न ये है कि प्रसारण के माध्यम से सत्ता लोकमानस से किस हद तक जुड़ती है—किस सीमा तक वह लोकसत्ता से साझेदारी करती है— परिवर्तित लोकमत का आदर करती है और उसके साथ सहयोग करके अपने तंत्र में सुधार करती है। ये कार्यप्रणाली जब तक साझेदारी का स्वरूप बनाए रखती है तब तक प्रसारण तंत्र की विश्वसनीयता बनी रहती है लेकिन जैसे ही वह तंत्र आरोपित लगने लगता है उसकी प्रामाणिकता और विश्वसनीयता समाप्त हो जाती है। फिर सत्ता पक्ष की तरफ से जो कुछ भी कहा-सुना जाता है वह क्रमशः उबाऊ, अविश्वसनीय, प्रचारात्मक और अन्ततः हास्यास्पद होने का जोखिम उठाता है। शब्द की साख खत्म हो जाती है। श्रोता की स्वेच्छा जहाँ तक प्रभावी रहती है वह इन प्रसारणों से कतराता है। यह सरकारी नियंत्रण सबसे प्रमुख खतरों में एक है— क्योंकि इससे प्रसारण का लक्ष्य ही समाप्त हो जाता है।

इसी से स्पष्ट है कि प्रसारण पर नियंत्रण की नीति—सत्ता की राजनीति से ही प्रेरित होती है। वह राजनीति जैसे-जैसे अनुदार अलोकतांत्रिक और संकुचित होती जाएगी और अपने भ्रष्टाचार को महिमामण्डित करने की कोशिश करेगी वैसे-वैसे वह चाहेगी कि उसकी एक पाखंडी छवि बराबर लोकमानस में बनायी जाती रहे। यही छवि उसके 'निष्कलंक' होने का प्रमाण बनती है। परन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है, यह अक्सर अपने लक्ष्य से च्युत होकर केवल विद्रूप बन जाती है। भारत में आजादी के बाद प्रसारण माध्यम को स्वायत्तता देने के लिए पहले प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू के बाद ही आवाजें उठने लगीं। इसका एक कारण यह भी था कि नेहरू को लोकमानस में अपनी छवि बनाने के लिए प्रचार माध्यमों का मोहताज नहीं होना पड़ा। उनकी तस्वीर को ज्यों का त्यों दे देने से भी आकाशवाणी की गरिमा का क्षरण

नहीं होता था। वह एक जननेता का लगभग वास्तविक चित्रण था। उनके जाने के बाद जो लोग गद्दी पर आये उन्हें प्रसारण माध्यम की मोहताजी का शिकार होना पड़ा। वे इन्हीं बैसाखियों पर खड़े रहकर जननेता होने का स्वप्न पूरा कर रहे थे। इसीलिए इस माध्यम को सरकारी नियंत्रण से हटाने की चर्चा उत्तरोत्तर गरम हुई। बिपक्ष को अपनी कमजोरी का अहसास हुआ।

आकाशवाणी की कार्यप्रणाली को सुधारने के लिए, उसकी विसंगतियाँ दूर करने के लिए और कार्यक्रमों को अधिक अभिव्यक्ति-स्वातंत्र्य देने के लिए कई कमेटियाँ बनीं—मसानी कमेटी और वर्गीज कमेटी इनमें उल्लेखनीय थीं। इन कमेटियों ने खासे बड़े पैमाने पर ढाँचे में मूल परिवर्तन के सुझाव दिए। कांग्रेस को हटाकर जब जनता पार्टी का शासन आया तो उन्हीं 'राजनीतिक प्रतिज्ञाओं' के बल पर यह मान लिया गया कि वर्गीज कमेटी के सुझाव स्वीकृत होंगे और आकाशवाणी और दूरदर्शन सरकार निरपेक्ष-स्वायत्त-निगम के रूप में काम करने लगेंगे। लेकिन जैसा कि कुर्सी का तर्क होता है जनता पार्टी की सरकार को भी प्रचार के इतने सशक्त माध्यम को छोड़ने का साहस नहीं हुआ। उस बिल को कानून बनाने की अब तब की देरी जनता पार्टी की सरकार को ले डूबी। प्रचार का यह माध्यम फिर कांग्रेस सरकार के हाथ आया और उसने उसी तरह आकाशवाणी को स्वायत्तता देने का तर्क ठुकरा दिया जिस तरह बहुत दिनों तक ब्रिटिश सरकार हिन्दुस्तान को अपरिपक्व समझ का देश मानकर आजादी देने की माँग को अस्वीकार करता रहा।

यह सिद्ध तथ्य रहा है कि दूर दराज तक एक ही क्षण में सरकारी पक्ष का विस्तार करने में यह माध्यम देरी नहीं लगाता। अखबार जहाँ नहीं पहुँच सकते वहाँ भी ट्रांजिस्टर सेटों के बदौलत आकाशवाणी खबरों से, रेडियो रिपोर्टों से, रनिंग कमेन्ट्री से और अन्य विवरणों से सत्ता-पक्ष की चटपट वकालत करता दिखाई पड़ता है। अखबार पाठक के पढ़े-लिखे होने की अनिवार्य माँग करता है फिर अखबार की निष्पक्षता या न्यस्त स्वार्थ का सबूत होने या न होने पर—खबर मिलने पर भी—उसकी प्रामाणिकता जाँची जाती है। रेडियो तो देववाणी की तरह आती है और हिन्दुस्तान के सरल लोकमानस को सहज ही प्रभावित कर देती है। यदि आकाशवाणी अपनी तटस्थता को प्रामाणिक

बनाये रख सके तो उसकी प्रसार-क्षमता पर प्रश्नचिन्ह लगाना असंभव है। सम्पूर्ण प्रसारण तंत्र उत्तरोत्तर एक मुस्तकिल सरकारी विभाग में तब्दील कर दिया गया। इससे वहाँ के सारे कर्मचारी अब सरकारी नौकर बन गये। उन्हें सरकारी कर्मचारियों के सारे फायदे मिलने लगे और उन्हें—'सिविल सर्विसेज़' के नियमों में बाँध दिया गया। उनकी 'असुरक्षा' समाप्त हो गई और वे जोखिम उठाने से कतराने लगे। वहीं से कला का क्षरण प्रारम्भ हो गया। सारा आकर्षण जो जोखिम में रहता था वह समाप्त हो गया। इसका अप्रत्यक्ष परिणाम यह भी हुआ कि वहाँ काम कर रहे तथाकथित-कलाकार-कर्मचारियों की दक्षता समाप्त होने लगी। वे एक औसत किस्म के काम-चलाऊ मोहरे होकर रह गये। यह अजब नहीं है कि इस समय देश में जैसी रचनात्मक प्रतिभाएँ हैं उनमें से कोई भी उल्लेखनीय रेडियो केन्द्रों की किसी नौकरी में नहीं हैं। सरकार को यह मुआफ़िक आता है कि वह प्रसारण तंत्र को कला माध्यम न मानकर केवल एक शिल्पगत-व्यवस्था माने। इसके लिए किसी रचनात्मक प्रतिभा से बचने में ही वह अपना श्रेय समझती है। इसीलिए नयी नीति के अनुसार तकनीकी शिल्प के विशेषज्ञ आकाशवाणी में काम कर रहे इंजीनियर वर्ग का यह दावा भी मान लिया गया कि वे भी रेडियो स्टेशन के कार्यक्रमों के निर्देशक बन सकते हैं। विडम्बना है कि उन्हें इसी आधार पर तमाम केन्द्रों पर मुखिया बनाया भी गया है।

प्रसारण व्यवस्था की यह सरकारी अधिकरण की नीति प्रसारण तंत्र और उसकी कला के विकास में भी बाधक है। वह प्रसारण की किसी वैकल्पिक व्यवस्था को देश में नहीं चलने देती। इसलिए रेडियो तंत्र की नौकरी में गये लोग अपने लिए किसी विकल्प जीविका की खोज नहीं कर सकते। जीवन के अन्य क्षेत्रों में नौकरी के लिए उनका अनुभव शून्य ही माना जाता है। यदि सरकारी नियंत्रण का एकाधिकार हट जाय तो वहाँ काम करने वालों को अपनी प्रतिभा का विकास करने और उसका समुचित मूल्यांकन कराने के लिए विकल्प साधन उपलब्ध रहता है। इससे एक स्वस्थ प्रतियोगिता जन्म लेती है। कलाकार अपनी क्षमता की चुनौतियाँ महसूस करता है। उसे निरन्तर विकसित करने के मार्ग खोजता है और अपने परिश्रम की बेहतर मजदूरी माँग सकता है। ऐसा तमाम अखबारों में काम कर रहे पत्रकारों के उदाहरण से समझा जा

सकता है। उन्हें एक अखबार छोड़कर दूसरे में जाने की छूट और सुविधा दोनों ही प्राप्त है। इसलिए उनके कलम की धार न तो कुंठित होती है और न उसकी प्रामाणिकता समाप्त होती है। आकाशवाणी का सरकारी संरक्षण न तो कलाकार को विकल्प की छूट देता है और न उसे यह अवसर ही देता है कि वह अपनी प्रतिभा के अनुरूप अपनी मजदूरी उन्हीं शर्तों पर अन्यत्र पा सके।

सरकारी नौकरी की जकड़बन्दी और उसके प्रलोभनों का अन्त नहीं। नौकरी की तर्क-पद्धति से कलाकार भी बेहतर सुविधाओं की माँग करते जाते हैं। कार्यक्रम को बेहतर बनाने के लिए कोई संघर्ष नहीं होता। सरकार की ओर से मँहगाई-भत्ते के टुकड़े तो फेंके ही जाते रहे अब समस्त कर्मचारियों को 'इण्डियन ब्राडकास्टिंग सर्विस' का नाम देकर उसमें उन्हें ले लेने का नया प्रभा-मण्डल बनाया जा रहा है। यह स्वतः मान लिया गया कि रचनाधर्मी इस कलामाध्यम में भी रचनाशीलता का उतना महत्व नहीं जितना सिविल सर्विस के नमूने पर 'इण्डियन ब्राडकास्टिंग सर्विस' में शामिल हो जाने का 'गर्व' है। जाहिर है कि जो भी दूसरे दर्जे की घटिया प्रतिभाएँ प्रसारणतंत्र में किसी भी दरवाजे से घुस आयी हैं, वे इन अकल्पनीय सुविधाओं और 'गरिमा मण्डित' होने का स्वप्न कहीं और देख भी नहीं सकती थीं। सत्ता ने यह सब उनको समर्पित करके उन्हें अपना ज़रखरीद गुलाम बना लिया। अब उनकी यह जिम्मेदारी है कि वे एक सच्चे नौकरशाह की तरह सत्ताधारी वर्ग की पुष्टि के लिए निरंतर काम करें। यह कार्य स्वायत्त निगम के द्वारा सम्भव नहीं हो सकता था। वहाँ तो उन्हें अपने कार्य दक्षता की मुहर लगानी ही पड़ेगी।

प्रसारण के चित्ताकर्षक होने के दो मूल विन्दु हैं—उसमें भरा हुआ जोखिम और उसके बासीपन को नकारती हुई जिन्दादिली। सरकारी नियंत्रण इन दोनों बिन्दुओं को समाप्त करता है। सुविधाजीवी कर्मचारी न तो जोखिम उठाएगा और न जोखिम भरे काम या प्रसारण सामने आने देगा। बहुधा वे कार्यक्रम इसीलिए लीक पीटते हुए दिखाई पड़ते हैं। वे इसी कारण सजीव या जिन्दादिल भी नहीं हो पाते। वे श्रोता की एकरसता को दूर नहीं कर पाते। ताल में पत्थर फेंकने से यदि लहरियाँ उठना बन्द हो जायँ तो मान लेना चाहिए कि ताल की तरलता नहीं है वह जड़ हो गया है। जब तक किसी प्रक्रिया से उस ताल की ग्राह्यता को तरंगों में नहीं बदला जा सकता तब तक यह सरकारी प्रसारण अपने को समाज की जड़ प्रतिक्रियाओं को सम्बोधित करता हुआ पाएगा। □

संगीत और रेडियो का रिश्ता

भारतीय संगीत पर से जब रजवाड़ों का संरक्षण समाप्त हुआ तो आल इंडिया रेडियो (बाद में आकाशवाणी) ने उस दायित्व को चाहे अनचाहे अपने कंधों पर ले लिया। शायद यह एक गहरी जिम्मेदारी इस मायने में थी कि वह भारतीय संस्कृति के एक ऐसे पहलू को उजागर करती थी जिसके पास विरासत का एक दुर्लभ भंडार था। उसकी सही पहचान सुलभ हो गई। आल इंडिया रेडियो इस जिम्मेदारी के बोझ को कहाँ तक सही परिप्रेक्ष में समझ कर अपना दायित्व निभाता रहा और कहाँ वह रेडियो से प्रसारित संगीत को मनोरंजन का महज पर्याय सिद्ध करने में जुटा रहा—इसकी पड़ताल इस समर्थ तंत्र के क्रमशः नासमझ उपयोग (?) की एक दिलचस्प कहानी है।

आज़ादी से पहले के ज़माने को रेडियो में आज भी 'बुखारी-युग' (तत्कालीन महानिदेशक जेड बुखारी के नाम से।) कहा जाता है। इसमें संगीत के नाम पर लखनऊ-दिल्ली-बनारस और लाहौर की पेशेवर 'बाई जी' लोगों का गाना—कुछ उस्तादों की चीजें, कुछ ग़ज़लें, कुछ मिले-जुले गानों के 'ग्रामाफून' रिकार्ड और कुछ धुनें बजा करती थीं। इसके अलावा कुछ 'इंदरसभा' की शैली की संगीतिकाएँ भी होती थीं। आज़ादी के बाद नेहरू मंत्रिमंडल में जब डाक्टर बालकृष्ण विश्वनाथ केसकर प्रसारण मंत्री हुए तब आकाशवाणी में संगीत प्रसारण का नक्शा बदलना शुरू हुआ। तब महानिदेशक हुए लेखक नाटककार जगदीशचंद्र माथुर। केसकर और माथुर की जोड़ी ने रेडियो कार्यक्रम में बुनियादी बदलाव की

आधारशिला रख दी। डा० केसकर का वह मराठी आभिजात्य था जिसके पीछे पं० विष्णु दिगंबर पलुस्कर और पं० विष्णु नारायण भातखंडे के भारतीय संगीत को कुलीनता देने के अथक प्रयास थे। डा० केसकर ने रेडियो के माध्यम से देश में मान्य भारतीय संगीत की अनेक शैलियों को प्रतिष्ठित करने की सराहनीय पहल की। चुने हुए संगीतज्ञों और कलाकारों को उन्होंने रेडियो से जोड़ने की कोशिश शुरू की, तमाम कलाकारों को विभिन्न रेडियो केन्द्र पर 'प्रोड्यूसर' के रूप में नियुक्त किया जिनका काम रेडियो पर संगीत के अच्छे कार्यक्रम बनाकर श्रोता तक पहुँचाना था। रेडियो के मुख्यालय दिल्ली में एक 'प्रोड्यूसर-प्रमुख' संगीतविद् डा० जयदेव सिंह की नियुक्ति हुई।

संगीत क्षेत्र के अनेक जाने-माने व्यक्ति अब रेडियो से जुड़ गए तो एकाएक उस तंत्र की प्रतिष्ठा और प्रामाणिकता में श्रोता का विश्वास बैठने लगा। डा० केसकर और डा० जयदेव सिंह की पहल पर रेडियो में कार्यक्रम करने वाले कलाकारों की योग्यता और उनका वर्गीकरण करने के लिए एक ध्वनि परीक्षा पैनल बना। इसमें प्रो० एस० एन० रतनजंकर जैसे लोग भी थे। कुछ अत्यंत प्रतिष्ठित गायक-वादक इस ध्वनि परीक्षा से मुक्त भी किए गए। गायकों-वादकों के शुल्क बना दिए गए। रेडियो पर शास्त्रीय संगीत गाने बजाने वालों को—भांड, नट, कव्वालों की श्रेणी से हटा कर कलाकारों की श्रेणी में रखा गया। पं० रविशंकर, उस्ताद अली अकबर खाँ और पन्ना लाल घोष जैसे कलाकार रेडियो से जुड़े। वयोवृद्ध कलकारों के सम्मानार्थ भी कार्यक्रम होने लगे—उत्तर-दक्षिण सभी ओर भारतीय संगीत के कलाकारों में आत्म-सम्मान जाग्रत हुआ। वे देश की सांस्कृतिक उपलब्धियों के वाहक माने गए। किसी भी केन्द्र में जब ऐसी प्रतिभाएँ आतीं तो उनका आना केन्द्र के लिए एक घटना बन जाती।

सुरुचिपूर्ण, परिपक्व और प्रतिनिधि संगीत को रेडियो के माध्यम से प्रतिष्ठित करने के लक्ष्य को लेकर कार्यक्रम शुरू हुए। इनमें प्रति शनिवार होने वाला संगीत का अखिल भारतीय कार्यक्रम बहुत लोकप्रिय हुआ। इसमें देश के अत्यंत प्रतिष्ठित कलाकार उपस्थित श्रोताओं के समक्ष अपना कार्यक्रम—डेढ़ घंटे की विशेष अवधि का—प्रस्तुत करते। इस कार्यक्रम में नए और अनजाने चेहरे भी शामिल हुए। अपनी विशिष्टता के लिए यह राष्ट्रीय कार्यक्रम संगीतज्ञों के लिए एक प्रकार का मानक बनने

लगा और इसमें शामिल होना एक गौरव की बात। इसमें कर्नाटक संगीत के सभी मान्य संगीतज्ञ भाग लेते। यह कार्यक्रम संपूर्ण देश के रेडियो स्टेशनों के लिए 'अनिवार्य रिले' बना दिया गया था। इसी प्रकार रेडियो से आयोजित और प्रसारित आकाशवाणी संगीत सम्मेलन भी संगीत जगत में अपनी गहरी छाप छोड़ गया। इन सम्मेलनों में देश के सभी प्रतिष्ठित और नवोदित प्रतिभाएँ शामिल होती थीं और रागों के नियोजन से संपूर्ण संगीत जगत की झलक देती थीं। इन सम्मेलनों का उद्घाटन प्रायः देश के सर्वोच्च नेता किया करते और इसमें शामिल होकर वे देश की मूर्धन्य रचनाधर्मिता से साक्षात्कार किया करते। आज भी संगीत के क्षेत्र में अनेक मान्यता प्राप्त कलाकार इन आकाशवाणी संगीत सम्मेलनों के कृतज्ञ हैं जिसने उन्हें-उनकी कला को पूरे देश में एक साथ उजागर होने का अवसर दिया था।

केसकर-काल में रेडियो से प्रसारित 'लाइट म्यूज़िक' को 'सुगम संगीत' से अभिहित करके विशिष्ट साहित्यिक रचनाओं का प्रस्तुत करने का प्रयास हुआ। अनेक केन्द्रों पर 'लाइट म्यूज़िक यूनिट' खोले गए। इन पर नियुक्त प्रोड्यूसर विशिष्ट कवि की रचनाओं के विशिष्ट संगीतज्ञों के कंठों की जोड़ी बिठाते। सुमित्रानंदन पंत की कविता 'बाँध दिए क्यों प्राण प्राणों से'? का गायन सुश्री लता मंगेशकर ने उसी समय में रेडियो के लिए रिकार्ड कराया था। इस 'सुगम संगीत' को ठीक से चलाने और नए गीतों का सदुपयोग करने के लिए पं० नरेंद्र शर्मा और भगवतीचरण वर्मा जैसे कवियों को भी रेडियो ने पकड़ा।

इन्हीं दिनों हिंदी लेखक विश्वंभर मानव की देखरेख में रेडियो से गायन के लिए नए-पुराने कवियों की गायन सुलभ रचनाओं का एक वृहत संकलन 'प्रसार संगीत' तैयार किया गया। प्रत्येक गायक को अपने स्वरबद्ध संगीत के लिए इन्हीं प्रामाणिक गीतों में से चुनना होता था। अब तो यह भी बीती कथा है। इन सुगम संगीत के गायकों के द्वारा कौन सी रचनाएँ चुनी जाएँगी, अब उनका केवल भगवान ही मालिक है। घटिया गीत, तुकबंदियाँ और भ्रष्ट उच्चारण रेडियो-सुगम संगीत के पर्याय बन गए हैं। भजन गायन में तो ये सुगम संगीत गायक जिस क्रूर स्वच्छंदता का आज प्रदर्शन करते हैं, वह तो उन भक्तकवियों की आत्मा ही जानती होगी। सुगम संगीत की ही शैली में आकाशवाणी ने शास्त्रीय संगीत की लोकप्रिय बंदिशों को सरस कलाकारों से तीन-चार मिनट की

अवधि की तैयार कराई। इन्हें 'सुबद्ध संगीत' की संज्ञा दी गई। इन्हें हर केन्द्र छोटी अवधि के अंतरालों में बजाया करता था। अब ये 'सुबद्ध संगीत' के रिकार्ड क्रमशः लुप्त होते जा रहे हैं।

क्षेत्रीय लोकसंगीत में लोकगीतों की शब्दावली और लोकधुनों के प्रामाणिक स्वरूपों की रक्षा के लिए आकाशवाणी ने उस समय प्रचुर सामग्री जुटाई थी। लोक गायकों को अच्छी फीस मिलने लगी थी। अब तो इनका वर्गीकरण शास्त्रीय गायकों जैसा हो गया है और उसमें ध्वनि परीक्षा की भी सख्त बंदिशें नहीं के बराबर हैं। इस चोर दरवाजे के जरिए केन्द्र निदेशकों के सिफारिशी टट्टू आसानी से घुसते हैं और आकाशवाणी से नकली लोकसंगीत का घटिया भंडार अब समृद्ध हो रहा है। डा० केसकर को फिल्मी संगीत की लोकप्रियता का भान था। 'सीलोन रेडियो' के गानों से देश आक्रांत था। डा० केसकर की टीम ने इस चुनौती का सामना' 'विविध भारती' कार्यक्रमों का प्रसारण शुरू करके किया। इस कार्यक्रम में फिल्मी गानों को देश की प्रवहमान सांस्कृतिक धारा के साथ जोड़ने और उन्हें सही संदर्भ देने के कई तरह से प्रयास किए गए। यह प्रयोग बहुत सफल रहा। 'विविध भारती' के कार्यक्रमों ने 'सीलोन रेडियो' का नशा तोड़ दिया।

संगीत के बहुआयामी क्षेत्र को—उसकी संपन्न परंपरा को रेडियो में समेट कर भारत के आम श्रोता तक उसे सुलभ कराने का यह भगीरथ-प्रयास डा० केसकर के प्रसारण मंत्रालय से हटते ही बीच में ही छूट गया। जिस संगीत कला से आजाद हिंदुस्तान की निजी पहचान बनने की संभावनाएँ सामने आने लगी थीं—उसे तथाकथित 'विकास-कार्यक्रमों' (?) के नाम पर धीरे-धीरे बलि करने का प्रयास शुरू हो गया।

डा० केसकर के हटते ही दबी हुई नौकरशाही अपनी तरक्की और नौकरी में सुविधा और अधिकार के लिए उठ खड़ी हुई। इस झमेले में प्रोड्यूसर की हैसियत घटाने की कोशिश हुई जिससे प्रकारांतर से कार्यक्रमों पर भी अवांछित प्रभाव पड़ा। इस संघर्ष में यह बात जोर देकर कही जाने लगी कि रेडियो का माध्यम कला का नहीं—शिल्प का माध्यम है। यानी इसमें सजर्नात्मक प्रतिभा का होना ज़रूरी नहीं है। इस तरह के कार्यक्रम किसी भी नियमित सरकारी कर्मचारी से कराए जा सकते हैं। जो गाना गाने वाले हैं उन्हें बुलाओ—एक कांट्रेक्ट देकर दस्तखत कराओ—'गाना बजाना कराओ—चेक थमाओ और छुट्टी करो।' इस

नज़रिए का विस्तार इतनी जल्दी और सहज ढंग से हुआ कि भारतीय संगीत रेडियो माध्यम से जिस तरह अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा प्राप्त कर रहा था—उसी की छुट्टी हो गई।

संगीत कार्यक्रमों की दुर्दशा का प्रकरण कई स्तरों से प्रारम्भ हुआ। रेडियो प्रसारण के कार्यक्रम दो स्तरों पर तैयार होते हैं—पहला है किसी भी कार्यक्रम का पूर्व नियोजन या उसकी प्रस्तावित रूपरेखा तैयार करना और फिर अगला महत्वपूर्ण कदम है उस पूर्वनियोजन कार्यक्रम का रेडियो पर प्रस्तुतीकरण। यह रूपरेखा तैयार करना प्रथम वरीयता है। इसी में संगीत कार्यक्रम बनाने वाले प्रोड्यूसर की विशेष शिक्षा काम आती है: अपने क्षेत्र के विशिष्ट संगीतज्ञ, उनके घराने, उस क्षेत्र की विशेषताएँ और उन्हें उभारने वाली नई-पुरानी प्रतिभाओं की पूजा का आकलन, लोकमानस के पर्वसंस्कार और संगीत जगत से उनका तालमेल बिठाना-समसामयिक संगीत-प्रयोगों का प्राचीन पद्धतियों से सामंजस्य करने की तमीज़, रागों के प्रचलित एवं अप्रचलित स्वरूपों का श्रोता के लिए सामान्य ज्ञान देना, संगीतज्ञों की जीवनियाँ, उनके विशिष्ट कार्यवृत्त की जानकारी, गायन और तंत्रकारी दोनों को मिला कर संपूर्ण राग का संपुजन करने की क्षमता, रागदारी और श्रोता की समझ का गहरे स्तरों पर साक्षात्कार करने की परिकल्पना—यह सब कुछ संगीत में पूर्व-नियोजित करने की क्षमता है। हर केन्द्र से इस दिशा में जो प्रस्ताव आते उन्हें मुख्यालय के प्रोड्यूसर-प्रमुख हेरफेर करके पूरी क्षेत्रीय प्रतिभा को विकसित करने में अपना योगदान देते। तब रेडियो पूरी तरह से संगीत से लोकरंजन और जनमानस को जोड़ने की कोशिश में लगा हुआ था।

कलाकार और लाल फीताशाही के संघर्ष में पहला शिकार रेडियो कार्यक्रम हुआ—उसमें भी संगीत खास तौर पर। कलाकार को भी नौकरशाही का मज़ा मिलने लगा। वह भी कुर्सी से चिपका। अब यह सब पूर्व नियोजित कार्यक्रम के आदर्श केवल काग़ज़ी बातें हो गईं। शायद ही अब कोई ऐसा केन्द्र बचा हो जहाँ कल्पनाशील स्तर पर संगीत के 'शिड्यूल', बनते हों और मुख्यालय से उन पर सुधार की टिप्पणियाँ आती हों। अब केन्द्रों से प्रोड्यूसर हटाए जा चुके हैं—जा रहे हैं। उनकी जगह रेडियो के सामान्य: अफ़सर-प्रोग्राम एक्ज़ीक्यूटिव आ गए हैं। इनमें अधिकाँश ऐसे हैं जिनका संगीत से जिन्दगी में कभी कोई लगाव नहीं था और न उन्हें संगीत कार्यक्रमों को संपन्न कराने की कोई शिक्षा

मिली है। अब यही नासमझ लोग भारतीय संस्कृति की उच्चतम धरोहर को श्रोताओं तक पहुँचाने का काम कर रहे हैं– कभी ग़लत राग और ग़लत समय को जोड़कर, कभी तानपूरा वादन को 'वाद्य-वादन कार्यक्रम' के रूप में, कभी सुबह-सुबह अश्लील ठुमरियाँ सुनवा कर, कभी हफ़्तों एक ही राग घुमा फिराकर गवाते-बजवाते रहकर, कभी मरे हुए कलाकारों के नाम जीवित प्रोग्राम लगा कर, और अक्सर सिफ़ारिश पर 'पास' हो गए घटिया कलाकारों के प्रोग्राम क्षेत्रीय-प्रतिभा को विकसित करने के नाम पर—रेडियो संगीत और श्रोता को जोड़ने का काम चलता रहता है। वह श्रेष्ठ कलाकारों के प्रोग्राम करने से हिचकता है। शायद वहाँ उसकी गति ही नहीं है। वह श्रोता की समझदारी में परिवर्धन या परिष्कार करने की कोई अतिरिक्त ज़िम्मेदारी नहीं उठाता। वह जानता है कि कल को उसे संगीत विभाग से हटाकर कहीं और नाटक में, बच्चों के प्रोग्राम में, औरतों के प्रोग्राम में लगा दिया जाएगा। तब उसे संगीत के नाम पर अपनी प्रतिष्ठा दाँव पर लगाने से क्या मिलने वाला है?

संगीत कार्यक्रम का दूसरा महत्वपूर्ण पक्ष है—उस पूर्वनियोजित कार्यक्रम के आधार पर समुचित उपकरण जुटाकर उसका संपादन और प्रस्तुतीकरण। जहाँ तक रेडियो से शास्त्रीय संगीत कार्यक्रम का संबंध है अब यह प्रस्तुतीकरण जैसी प्रक्रिया कहीं नहीं बची। क्या राग है—कैसे और कौन इसे गा-बजा रहा है—बड़े ख्याल और छोटे ख्याल की बंदिशों में क्या कोई आपसी संबंध बन रहा है या नहीं—बोल कितने शुद्ध हैं—स्थाई और अंतरा के साथ बंदिश की संपूर्णता और शुद्धता की रक्षा गायन प्रस्तुति में हो रही है अथवा नहीं यह सब पहलू प्रस्तुतीकरण में उठते ही नहीं। पूर्वाभ्यास या रिहर्सल-रेडियो प्रोग्राम में एक पवित्रतम 'संस्कार' होता था। अब वह एकदम समाप्त प्राय है। इसीलिए कलाकार का अब कोई रेडियो-संस्कार होता ही नहीं। 'सुगम संगीत' का तो हर केन्द्र पर और बुरा हाल है क्योंकि इसमें गीत, भजन या पदों का चुनाव ठीक होने से लेकर उसकी धुनें बनाना और वाद्य वृंद के साथ उसका तालमेल बिठाना कई 'रिहर्सलों' की माँग करता है। इतना समय अब किसी के पास नहीं है कि वह एक गीत या भजन के लिए इतना श्रम करें। फिल्मों में उतनी ही अवधि के गीत के लिए कितना परिश्रम और धन व्यय होता है– यह सब जानते हैं। रेडियो के गीत कभी लोकप्रिय नहीं होते—इसका प्रमुख कारण उनके प्रति घटती हुई उपेक्षा ही है।

जिन कार्यक्रमों से रेडियो से प्रसारित संगीत का अखिल भारतीय स्तर बनता था उसकी दशा तो और भी चिंताजनक है। राष्ट्रीय प्रोग्राम (शनिवार) अब विभिन्न केंद्रों पर स्टूडियो में रिकार्ड होकर दिल्ली से बजाया जाता है। श्रोता की उपस्थिति से उन कार्यक्रमों की जो जीवंतता आती थी वह समाप्त है। कलाकारों के चयन में भी कोई दृष्टि नहीं होती। उसका जो गौरवपूर्ण-पक्ष संगीत जगत में बना था, वह अब एक सामान्य-चर्या-'रुटीन'—होकर रह गया है। अलबत्ता मंगलवार के दिन नवोदित कलाकारों की एक घंटे की सभा अब भी अपने में नयापन बनाए हुए है। वे उभरते हुए कलाकार अपनी प्रतिष्ठा को बनाने के लिए अधिक सचेत लगते हैं। केंद्रों पर होने वाली संगीत गोष्ठियाँ सभाएँ प्राय: लाटरी पद्धति से चुने गए कलाकारों और मार्च मास में समाप्त होने वाले 'बजट' के पैसों का 'सदुपयोग' करने के लिए होती हैं। इनकी भी अधिकतर कोई रूपरेखा किसी केंद्र पर अब नहीं बनती। इनके द्वारा न तो कलाकारों के संबंध में श्रोताओं का अतिरिक्त ज्ञान-वर्धन होता है और न इन सभाओं में रागदारी-घरानों या शैलियों का कोई श्रव्यसंस्कार ही बनाना अभीष्ट होता है। इक्के-दुक्के ऐसे प्रयास कभी-कभार इन संगीत सभाओं में उद्देश्यगत लक्ष्य को ध्यान में रख कर किए गए हैं—महाप्रभु बल्लभाचार्य की जयंती के उपलक्ष में 'अष्टछाप' के कवियों की रचनाओं का गायन वाराणसी केंद्र ने जब एक संगीत सभा की भाँति किया तो रेडियो कार्यक्रम के पेशेवर समीक्षकों ने उसकी चर्चा भी नहीं की। दरअसल इस तरह के इक्के-दुक्के प्रयास अपनी छाप बना भी नहीं पाते।

आकाशवाणी संगीत सम्मेलन तो अब सिर्फ़ एक खानापूरी है। उसकी अलग सभाएँ विभिन्न केंद्रों पर होती हैं जिनकी रिकार्डिंग बाद में बजाई जाती रहती है—बहुधा ऐसे समय पर जब कोई सुनने वाला नहीं होता। इसमें न तो रागों का पूर्व चयन होता है और न कलाकारों को नियंत्रित करने का कोई प्रतिमान। सब कुछ एक अललटप्पूपन का आभास देता रहता है। आकाशवाणी संगीत सम्मेलन का गौरव वापस बुलाने के लिए इसे अधिक संगठित कम दिनों में कई सभाओं के द्वारा, श्रेष्ठतम् कलाकारों के सहयोग से केंद्रीय रूप में ही करना पड़ेगा। यह केंद्रीय रूप पूरे देश में अलग-अलग जगहों पर चुने जा सकते हैं। इन्हें जीवंत किया जाए। यदि क्रिकेट मैच को पूरे देश पर वर्ष में कई बार

लादा जा सकता है—तो संगीत का अखिल भारतीय सम्मेलन वर्ष में एक बार भावी पीढ़ी के संस्कार के नाम पर करने का जोखम हमारे लोकतंत्र को उठाना ही चाहिए।

जब तक रेडियो में संगीत क्षेत्र के कार्यक्रम करने वालों के नजरिए में बदलाव की कोई व्यवस्था नहीं होती तब तक इसमें सुधार की कोई गुंजाइश कम है। शास्त्रीय संगीत, लोक संगीत या सुगम संगीत-काव्य और संगीत की सैकड़ों साल पुरानी विरासत को जोड़ कर भारतीयता की एक विशिष्ट पहचान हम घर-घर तक कैसे सार्थक ढंग से पहुँचाएँ—जिसे सुनकर श्रोता नाक-भौं न सिकोड़ें वरन् गर्व का अनुभव करने लगे। इस पूरे अभियान में रेडियो का सक्रिय सहयोग कैसे जुटाएँ—यह सब उसी तंत्र पर निर्भर है जो रेडियो पर भारतीय संगीत के कार्यक्रम करता है।

रेडियो शब्द और स्वर—दोनों शक्तियों का भरपूर उपयोग कर सकता है जबकि छापे का शब्द अकेला पड़ जाता है। इसी कारण गायकों, घरानों की विशेषताओं और शैलियों की विशिष्टताओं का इतना सम्यक प्रयोग रेडियों के संगीत कार्यक्रमों में ही हो सकता है जहाँ स्वर और उसके साथ लग कर शब्द भी अपनी प्रादेशिक सीमाएँ लाँघने की क्षमता पैदा करते हैं। रागम, तानम पल्लवी-ख्याल, ठुमरी, भजन, तराना और टप्पा अपना निजी स्वाद बनाए रख कर भी देश की नवसंस्कृति की पहचान दे सकते हैं।

केसकर काल में 'स्वरपरीक्षा' पैनल एक सख्त बाँध था जिसे लाँघ कर कूड़ा कचरा संगीत में नहीं घुस पाता था। उस पैनल या समिति में देश के मान्य कलाकार या संगीतविद् होते थे पर 'दबाव डालना' मुश्किल था। ये पैनेल रस्मअदायगी के नाम पर अब भी अनेक केंद्रों पर जारी हैं। किसकी पहुँच ? बस अब इतना सा ही प्रश्न रह गया है। इसी तरह सलाहकार समितियाँ हैं जिनमें सलाह कम केवल भाड़े भत्ते की चिंता ज्यादा होती है। इनके सदस्य अक्सर कार्यक्रमों को सुनते ही नहीं। संगीत के मामले में ठोस या रचनात्मक सुझाव प्रायः इन सलाहकार समितियों में आते ही नहीं। रेडियो के ही बने-बनाए खाँचों में इनकी सलाह की सीमा है। इन खाँचों को मूलतः तोड़ देने की बात नहीं कही जाती। और यदि कोई कहे भी तो उसकी बात इतने बड़े तंत्र में सुनेगा कौन ?

यह देश पिछले तीन दशकों से ऊपर सिर्फ 'फ़िलहालवाद' पर चल रहा है—रेडियो का तंत्र तो उसका मुख ही है। (शायद यह विभाग अब भी मुस्तकिल विभाग नहीं है।) इस माध्यम का उपयोग केवल व्यक्तिपूजा और उनकी छबियाँ उभारने या कुछ को मिटाने के लिए ही किया गया। इसके ज़रिए देश की पहचान सामान्य जन को हो पाती इसकी कोशिश ही पीछे छूट गई। संगीत जो सबसे सशक्त जोड़ने वाली ईकाई थी—उसे नकारने और निरर्थक बताने की नादान समझ अधिक मुखर हुई। कलाकार जबरन हटाया गया श्रोता को जबरन सुनाया गया। जबरिया सुनवाई के नतीजे सामने आए। किसी दूरगामी प्रभाव की कल्पना ही हमने नहीं की। केवल वही 'फिलहालवाद' ही हमारे दृष्टिकोण का केंद्रबिंदु रहा। संगीत को लेकर प्रसारण मंत्रालय भी केवल 'फ़िलहालवाद' पर ही टिका रहा। इसके आते जाते मंत्रिगण केवल छबियाँ निर्मित करने की नीति ही बराबर बनाते रहे और उसे देश के विकास का नाम देते रहे। देश की सही पहचान बनाने की कोशिश छोटे स्तर पर भी चलती रहती तो विदेशों में भारतीय युवा कुछ और ही छाप डाल कर आए होते। संगीत के जरिए सही आदमी बनाने की कोशिश बड़ी कठिन और लंबी अवधि की प्रक्रिया है लेकिन उसका प्रभाव भी उतनी दूर तक जाता है और सामान्य झटकों में वह प्रभाव सहज ही नहीं टूट पाता। यह सब 'शार्टकट' से नहीं हो सकता।

□□

लोकगीतों के प्रसारण में मूलदृष्टि

लोकगीत जितना सरल सहज व्यापक और जनप्रिय है उतना ही अपनी परिभाषा में दुरूह और जटिल भी है। आकाशवाणी के प्रसारणों का काफ़ी बड़ा समयांश लोकगीतों को दिया जाता है—बिना यह जाने-बूझे कि यह लोकगीत क्या हैं—उनकी सृजन प्रक्रिया क्या है और उनकी प्रामाणिकता कहाँ से आती है? लोकगीतों के प्रसारक यह भी नहीं जानते कि इन लोकगीतों का प्रभाव किस हद तक मनोरंजनात्मक है या और वह किस स्तर पर एक सर्जनात्मक प्रक्रिया बन जाती है?

'लोकगीत' शब्द के ये अर्थ हो सकते हैं—(१) लोक में प्रचलित गीत (२) लोकनिर्मित गीत (३) लोक विषयक गीत' ('हिन्दी साहित्य कोश')। लोकगीत एक विशेष समय में प्रचलित हो सकता है। दूसरा ऐसा भी लोकगीत होता है जो पीढ़ियों दर पीढ़ियों चलता है। लोकगीत किसी विशिष्ट कवि के द्वारा लिखा हुआ जनमानस में प्रचलित गीत नहीं हो सकता चाहे वह सूर, तुलसी के भजन ही क्यों न हों। लोकगीत तो गीत का वह प्रकार है जिसको किसी व्यक्ति से सम्बन्धित नहीं किया जा सकता—'जिसकी मेधा लोक मानस की स्वाभाविक मेधा नहीं' वह लोकमानस से तादात्म्य रखता है और ऐसी व्यक्तिहीन रचना करता है कि समस्त लोक का व्यक्तित्व ही उसमें उभरता है और लोक उसे अपनी चीज़ कहने लगता है। वह परम्परा में आ जाता है। समय-समय पर उसमें अनुकूल परिवर्तन होते रहते हैं। उसका दावेदार कोई एक आदमी नहीं होता।

इन लोकगीतों के अनेक प्रकार हैं। मानवीय जीवन के अनेक कार्य व्यापारों से यह लोकगीत जुड़े हुए हैं। चाहे उनके अपने संस्कार हों (जन्म, विवाह, सोहर, मुंडन, कनछेदन, जनेऊ आदि), जातिगत कर्म हों (लुहारी, कुम्हारी, फसल निराई, जांत चलाने वालों के गीत) या पर्वों अथवा ऋतु के गीत हों जो प्रकृति और मनुष्य के सामंजस्य की छवि अंकित करते हों या वीरता और शौर्य की कथाएँ हों या मानवीय संवेदनाओं की निजी गहन अनुभूतियाँ हों—यह सब कुछ भारतीय लोकगीतों में समाहित है। वह पूरे भारतीय जीवन दृष्टि और दर्शन को समेटकर संगीत में बाँधती है। वह अपने सुनने वाले को उस अपूर्व कल्पनालोक में ले जाती है जहाँ 'हर घर में सोने-चाँदी के किवाड़ लगे हुए हैं, झांझर गेंडुवे में गंगाजल भरा हुआ है, लौंग और आम की बगिया है, माँ का ममत्व है—बाप और भाई बेटी की विदाई पर रोते हैं और बरसात में जब छप्पर में से पानी की धार गिरती है तो विरहिणी नायिका को व्यापार करने के लिए 'मौरंग' देश गये हुए पति की याद सताती है।' इस कल्पनालोक के 'भरम' को गायक जब संगीत में उतारता है तो वह यह भी जानता रहता है कि यथार्थ से कहाँ टकराकर उसका स्वप्न लोक चूर हो जाएगा। इसीलिए समय के साथ उसमें यथार्थ के ऐसे पुट आते रहे हैं जो उस कल्पना लोक की छबि को नया सौंदर्य देते हैं। त्याग, दया, ममता, करुणा जैसे मूल्यगत अनुभव भाई-बहन, पति-पत्नी, देवरानी-जेठानी, सास-बहू के सम्बन्धों को ये लोकगीत एक धागे में पिरोते-चलते हैं। पूरे समाज संरचना की अनुगूंज इन लोकगीतों में आ जाती रही है।

आकाशवाणी ने जब लोकगीतों का इस्तेमाल शुरू किया तो कार्यक्रमों की लोकप्रियता बढ़ी। परन्तु इन लोकगीतों की प्रामाणिकता बहुत जल्दी अग्निपरीक्षा में स्वाहा हो गयी। बोलियों में एक तरह की नक़ली लोककविताएँ घुसेड़ी जाने लगीं। उनको अक्सर 'विकास-गीतों' के साथ एक नया नाम दिया गया। इनके विषय ज्यादातर सरकारी प्रचार के विषय होते हैं : कभी छुआछूत पर कभी बाल-विवाह पर कभी दहेज और कभी नहरों की सिंचाई पर भी ये विकासगीत रचे जाने लगे। बीस सूत्रीय कार्यक्रमों पर लोकगीत रचने का कार्य लोकगायकों को बड़ा मँहगा पड़ा। रेडियो ने उनको वरीयता दी इस कारण कुछ तो आर्थिक और कुछ रेडियो द्वारा यश पाने के मोह में ये लोकगायक अपनी

पारम्परिक शैली से कटकर केवल इन्हीं विकास गीतों के जाल में फँस गये। इस तरह पारम्परिक लोकगीतों का क्रमशः क्षरण प्रारम्भ हुआ। अब उस तरह की खांटी लोकगीतों वाली सामग्री विरले गायकों के पास ही उपलब्ध है जिन्हें गाने में वे हिचकिचाते हैं।

दूसरा क्षरण लोकगीतों की मूल धुनों का हुआ। पहले ये लोकगीत उन लोकधुनों से अनुप्राणित थे जो सहज मानवीय कंठ की उपज थे। वे अक्सर तीन-चार सुरों के आरोह-अवरोह में ही सीमित रहते थे। उनकी लय अपने ढंग के शब्दों के साथ बँधी लय होती थी। शब्दों को उस लय से अलग करके नहीं गाया-बजाया जा सकता था। आकाशवाणी ने लोकगीतों की इन मूल धुनों पर मुलम्मा चढ़ाने के नाम पर उन्हें अधिक पालिश-युक्त करने के लिए उनमें अधिक टेढ़े स्वर-विन्यास का क्षेपक जोड़ा और अनेक वाद्य इस्तेमाल करके उसे फिल्मी संगीत के पड़ोस में बिठाने की कोशिश की। इसके परिणामस्वरूप लोकगीतों के शब्द और कथ्य का प्रचलन तो नहीं बढ़ा लेकिन सिनेमाई धुनें ही ग्रामीण अंचलों में अधिक प्रचलित हुईं।

आकाशवाणी के लोकगीतों का भट्ठा बिठाया अब उन गन्दे बाजारू कैसेट टेप रिकार्डों ने जिनमें लोकगीतों के नाम पर गन्दे और अश्लील गानों की भरमार थी। जो लोकगायक आकाशवाणी के द्वारा प्रसिद्धि पा चुके थे उनमें से अधिकांश ने इस तरह के कैसेट बनवाकर गाँव-गाँव में उस ढंग के बाजारू गानों की धूम मचा रखी है। ऐसे गाने अब गाँव के अखण्ड कीर्तन समारोह से लेकर शादी-ब्याह तक के आयोजनों में सहज ही बजते हुए सुनाई पड़ जाएँगे।

अब आकाशवाणी के लोकसंगीत प्रसारण को यह दोहरा मोर्चा झेलना है—एक तो अपनी पारम्परिक और प्रामाणिक लोकगीतों की जानकारी हासिल करना और उसे सुरक्षित करके आकर्षक ढंग से उनकी पुनर्स्थापना का प्रयत्न। लोकगीतों के प्रोड्यूसरों में कम ही ऐसे होंगे जिन्होंने पं० राम नरेश त्रिपाठी या पं० कृष्णदेव उपाध्याय या श्री देवेन्द्र सत्यार्थी के लोकगीतों के संग्रहों से कभी परिचय प्राप्त किया हो। उनको ग्रामीण अंचलों से जो दुर्लभ लोकगीतों की रिकार्डिंग कभी कदाश प्राप्त हो जाती है उसे वे सहेज कर रख सके हों और नये गायकों को प्रेरणा दिला सके हों—ऐसा भी नहीं है। दूसरे इस प्रकार के अश्लील लोकगीतों से मुक्ति दिलाने के लिए ऐसे सुरुचिपूर्ण और सुघड़ लोकगीत

प्रसारित करने का या उन्हें सहज उपलब्ध कराने का तरीका वे सोच सकें जो रसानुभूति में गहरी विकृतियाँ पैदा कर रहा है।

दुर्भाग्य की स्थिति है कि लोकगीतों के इतने सशक्त और सार्थक माध्यम को जितनी लापरवाही और उपेक्षा के साथ—आकाशवाणी प्रसारित करके अपनी गैर जिम्मेदारी प्रदर्शित करता है, वह इसके दूरगामी परिणामों से अनभिज्ञता ही जताता है। सभी केन्द्रों से लोकगीत प्रसारित होते हैं लेकिन बहुत कम ऐसे केन्द्र हैं जहाँ लोकगीतों के सही जानकार ही उनके प्रोड्यूसर बनाए गये हैं। जो अशिक्षित व्यक्ति इस क्षेत्र में आ भी गये हैं, उनके ज्ञान को परिपूर्ण करने के लिए किसी ट्रेनिंग की कोई व्यवस्था नहीं है। एक ही क्षेत्र की भिन्न बोलियों में एक ही संस्कार या पर्व या जाति के गीतों की रचना में और उसके मूल धुनों में कैसे अन्तर पड़ता है और उस अन्तर को संगीत के अनुभवों से जोड़कर कैसे नया सौंदर्य बोध स्थापित किया जा सकता है—इसकी जानकारी कहीं देखने में नहीं आती। जहाँ लोकगीतों का तथाकथित आधुनिकीकरण हुआ है वहाँ वे वाद्यवृन्द के अधिक मुखर इस्तेमाल, शब्दों की अस्पष्टता और कुछ फिल्मी शैली की नकल लिए हुए अवतरित होते हैं। इसे नकार कर यदि हम लोकगीतों की पवित्रता बचा सके तो अपनी धरोहर का काफ़ी बड़ा हिस्सा सुरक्षित कर लेंगे।

□□

कल्पनाहीन सुगम-संगीत

सुगम संगीत की अवधारणा रेडियो के प्रसारण तंत्र की अपनी विकसित की हुई एक शैली है। यह न तो शास्त्रीय संगीत है, न उप-शास्त्रीय संगीत और न फिल्मी गाना। यह सभी का मिला-जुला खिचड़ी रूप है। इसमें लोकधुनें भी शामिल की जाती हैं। इसमें विभिन्न कवियों के लिखे हुए गीत, कविताएँ, भजन, पद और उर्दू या अन्य क्षेत्रीय भाषाओं की रचनाएँ जैसे ग़ज़ल आदि भी चल जाती हैं। सुगम संगीत सभी केन्द्रों से प्रसारित होता है। इस कारण देश के प्रसारण तंत्र में इसका एक स्थान बन गया है। अब तो सुगम संगीत की यह विधा रेडियो से बाहर निकल कर भी गायन की एक स्वतंत्र विधा के रूप में मान्यता प्राप्त कर रही है।

सुगम संगीत की यह विधा देश के आज़ाद हो जाने के बाद फिल्मी गानों की चुनौती के रूप में रेडियो की नई सोच से उत्पन्न हुई। फिल्मी गानों की प्रायः घटिया शब्द रचना, जो अपनी धुनों के कारण लोक मानस में अपनी पैठ बनाती जा रही थी, उसके बारे में तत्कालीन प्रसारण मंत्री डा० बा० वि० केसकर चिन्तित थे। पूरा देश फिल्मी गानों के हमले से आक्रान्त था। उसका मुकाबला करने के लिए डा० केसकर ने दो स्तरों पर मोर्चे खोले—एक तो सुगम संगीत का परिमार्जन और उसके आभिजात्य स्वरूप की प्रतिष्ठा। दूसरे अनेक केन्द्रों पर 'विविध भारती' नाम से सुरुचिपूर्ण मनोरंजक कार्यक्रमों के एक दूसरे चैनल की स्थापना। विविध भारती ने काफ़ी हद तक घटिया फिल्मी गानों के माहौल को

बदला और लोगों की सुनने की रुचि में परिमार्जन किया। अनेक केन्द्रों पर विविध भारती के दूसरे चैनल की शुरुआत हुई जो क्रमशः आकाशवाणी के द्वारा उपभोक्ता सामग्री के विज्ञापन केन्द्र बन गये। वे रेडियो के सबसे शक्तिशाली 'कमासुत पूत' बने। सुगम संगीत का स्वरूप बनाने के लिए विशेष यत्न करना पड़ा। अनेक क्षेत्रीय भाषाओं में ऐसे संगीत को पहले से ही मान्यता प्राप्त थी जो शास्त्रीय संगीत से हटकर अपनी पहचान बनाए हुए थे जैसे बंगाल में 'रवीन्द्र संगीत' या महाराष्ट्र में **'भाव गीत'** और **'नाट्य गीत'** आदि।

हिन्दी क्षेत्र में सुगम संगीत के साथ तालमेल बिठाकर उसे संशोधित रूप में रखना दुष्कर था। हिन्दी कविता के नाम पर जो गीत रेडियो के कलाकारों द्वारा मनमाने ढंग से गाये जाते थे उनकी कोई साहित्यिक मान्यता न थी। तमाम अज्ञातनामा कवियों की तुकबन्दियाँ रेडियो से सुनवाई जाती रहीं। उन्हें बदलकर उनकी जगह पर उत्कृष्ट कवियों की रचनाएँ कलाकारों से गवाना कोई साधारण काम न था। इसके हिन्दी क्षेत्र के कई केन्द्रों पर सुगम संगीत की प्रतिष्ठित रचना करने के लिए ऐसे यूनिट खोले गये जिन पर साहित्य के मर्मज्ञ और संगीत में दक्ष व्यक्तियों की नियुक्तियाँ की गयीं। काफी समय तक इन यूनिटों ने बहुत अच्छा काम किया और कई केन्द्रों पर अच्छे गीतों की संगीत संरचना हुई। अपने-अपने क्षेत्र के शीर्षस्थ व्यक्तियों को सुगम संगीत में लपेटा गया। इनमें हिन्दी कवि पं० नरेन्द्र शर्मा, उस्ताद अली अकबर खाँ और विशिष्ट गायिका सुश्री लता मंगेशकर को भी जोड़ा गया। इनके रिकार्ड बनाए गए और 'ट्रांसक्रिप्शन सर्विस' के द्वारा उनकी अनेक प्रतियाँ बनाकर सभी केन्द्रों को भेजी गयीं। तब 'टेप' का चलन नहीं था। ये 'प्रेस्टोरिकार्ड' होते थे—ग्रामोफोन के रिकार्डों की तरह !! इसे बजाने की तकनीकी सुविधा भी केवल रेडियो तंत्र के ही पास थी। ये सब गुज़रे ज़माने की बातें हैं। एक और अच्छा काम उस समय हिन्दी कार्यक्रमों के सलाहकार कविवर सुमित्रानन्दन पन्त की देखरेख में हुआ —वह था रेडियो के लिए 'प्रसार-संगीत' का संकलन। लेखक श्री विश्वम्भर मानव की सहायता से किए हुए इस संकलन में हिन्दी के प्राचीन से अर्वाचीन कवियों की गेय रचनाओं को शामिल किया गया। इन्हीं संकलनों में से सुगम-संगीत के गायक कलाकारों को रचनाएँ छाँटकर दी जातीं और हर केन्द्र पर लगे हुए विशिष्ट 'म्यूज़िक कम्पोज़र'

और डाइरेक्टर उन्हें संगीतबद्ध करके गायक कलाकारों से विधिवत् पूर्वाभ्यास के साथ रेडियो पर उसे प्रस्तुत कराते थे। यही प्रक्रिया ग़ज़लों के साथ भी चलती थी।

रेडियो कार्यक्रमों की प्रस्तुति में जिस तरह अब संख्या और आँकड़ों की बढ़ोत्तरी पर ज्यादा बल दिया जाता है और प्रसारण की निजी श्रेष्ठता घट गयी है—उसी क्रम में सुगम-संगीत भी अपनी मौत मारा गया। जो इन कार्यक्रमों के संयोजक या सरपरस्त थे उनके पास सुगम संगीत को किसी खास दृष्टि से प्रस्तुत करने की कोई कल्पना नहीं थी। गायक को खास ढंग से तैयार करके रचना को सामने लाने का जो यत्न था वह 'शार्टकट' के नाम पर समाप्त हो गया। उसके लिए जो अतिरिक्त स्टाफ की व्यवस्था की गयी थी वे पद ही समाप्त हो गये। सुगम-संगीत का पुरसाँहाल कोई नहीं रह गया। वे सिर्फ लकीर के फकीर होकर अपना ढर्रा खुद बनाते रहे। लिहाजा बिना जाँची-परखी हुई दुकड़ही तुकबन्दियाँ जिन पर गायक कलाकारों को विशेष मेहनत नहीं करनी पड़ती थी, फिर सुगम संगीत के नाम पर प्रसारण तंत्र में घुस आयीं। घटिया शायरी का बोलबाला हुआ। उन पर कोई श्रोता उँगली उठाने लायक भी न बचा। शायद ही किसी अखबार में रेडियो प्रोग्रामों के व्याख्याकार सुगम संगीत पर कभी कोई टिप्पणी देते हों। महादेवी, पंत, प्रसाद, निराला—गालिब, ज़ौक, मीर, जायसी, रहीम, अष्टछाप के कवि सबको दुरूह और मुश्किल मानकर आकाशवाणी के सुगम संगीत ने बट्टे खाते में फेंक दिया। अब जो बचे उनका नाम न लेना ही श्रेयस्कर है।

यह सुगम संगीत अब केवल रेडियो के विशेष—'**जश्नों**' का एक हिस्सा होकर रह गया है। हर केन्द्र अपने सालाना जलसे का एक हिस्सा **सुगम संगीत सभा** के नाम से विज्ञापित करता है। इसमें रेडियो के विभिन्न केन्द्रों से घटिया गीत और चालू ग़ज़लों को गानेवाले 'कलाकार' (?) बुलाकर जमा किए जाते हैं। फिर उनको एक के बाद एक उपस्थित श्रोताओं पर छोड़ा जाता है। वे जो चाहते हैं उसे गीत के नाम पर चलाते हैं। उनके पीछे उन्हें निमंत्रित करने वालों की कोई दृष्टि नहीं रहती। अक्सर लड़कियों के सुन्दर चेहरे और केन्द्र निदेशक की सनकी और घटिया पसन्द की वे बानगी होते हैं। वे अपने गायन से क्या सम्प्रेषित करना चाहते हैं इसका कोई अन्दाज़ न तो रेडियो के जलसा

करने वालों को होता है और न इन चलताऊ कलाकारों को ही। वे धन्धे के लिए यह 'करम' करते हैं।

सुगम संगीत का यह नया उभरा स्वरूप जितना विद्रूप है प्रायः उतना ही कुसंस्कारी भी। इसमें यदि थोड़ी सी भी कल्पना का उपयोग होता, प्रस्तुत की जाने वाली रचनाओं को यदि किसी अनुक्रम से छाँटकर किसी विशिष्ट विषय को श्रोताओं के मानस पटल पर उभारने की कोशिश होती, तो सुगम संगीत के माध्यम से काव्य की गहरी अनुभूति भी सरलता से प्रवाहित हो सकती थी। शब्द और स्वर का मणिकांचन योग सुगम-संगीत के द्वारा सम्भव हो सकता है। शब्द की छाप स्वर के ज़रिए गहरी बैठती है। यदि ये शब्द प्राणवान हैं और भारतीय जीवन के गहरे संस्कारों के वाहक हैं तो स्वरों की गुनगुनाहट उनको लम्बी अवधि तक जनमानस में महत्वपूर्ण परिवर्तन करने के लिए अबाध गति से शक्ति देती हैं। यही सुगम संगीत की मूल शक्ति है। यहाँ तान, आलाप के सारे आभूषण वर्ज्य हैं। केवल शब्द की प्राणवत्ता रह जाती है जिसका संचरण स्वरों के माध्यम से होता है।

□□

रेडियो नाटक : इसी तरह आखिर कब तक ?

आल इंडिया रेडियो से प्रसारित अनेक कार्यक्रमों में रेडियो नाटक अपेक्षाकृत लोकप्रिय हो रहा है। ध्वनि के माध्यम से कही हुई कथा का नाट्यीकरण बनाया गया। नाटक की कथा, चरित्र और उनके आपसी संघर्षों से जो परिणाम सामने आते थे उनमें श्रोता की रुचि बराबर बनती रही। रेडियो नाटक श्रव्यकाव्य के अधिक निकट था। इस माध्यम में मानवीय इन्द्रियजन्य संवेगों से निसृत कार्य विधि को एक दूसरे माध्यम से ग्रहण करने की क्षमता श्रोता से अपेक्षित है। यानी जो काम रंगमंच पर हमारी आँखें दृश्य और पात्र दोनों के ही माध्यम से ग्रहण करती हैं वही काम रेडियो नाटक केवल श्रव्य होकर—कान से आँखों का भी काम करता चलता है। इस प्रकार श्रोता अपनी कल्पना के नये क्षितिज स्वयं निर्मित करता है। रंगमंच की तरह परिसीमित नहीं करता वरन कल्पना की उड़ान को निर्बाध मुक्त करता है।

इसी दृष्टि से रंगमंच के नाटक और रेडियो नाटक अपनी मूल अवधारणा में ही—कथावस्तु और पात्रों की समानता के बावजूद एक दूसरे से भिन्न हैं। रंगमंच आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक—इन चारों तत्वों को अभिनय में समेटकर चलता है। नेत्र, मुख, हाथ की मुद्राएँ, व्यंजित अर्थों वाली वाक्यावली, वस्त्राभरण, वेशभूषा तथा पात्रों के सहज रोमांच जैसी अनुभूतियों से जो कुछ सम्मिलित ढंग से दर्शक तक सम्प्रेषित हो जाता है वह रेडियो नाटक में केवल वाचिक और कभी-कभी (वाचा की पुष्टि के लिए) आंगिक अभिनय के सहारे ही

अभिव्यक्त होता है। इसलिए यह अपेक्षाकृत सूक्ष्म और सशक्त माध्यम है। रंगमंच एक साथ मंच पर कई पात्रों की उपस्थिति उनके परस्पर संवादों और क्रिया-कलापों से एक प्रभाव उत्पन्न करता है जबकि रेडियो नाटक में एक समय में एक ही पात्र श्रोता के सामने अभिव्यक्ति करता रहता है। शेष सारे पात्रों की प्रतिक्रिया एक साथ ही (सामूहिक स्वरों को छोड़कर) उपलब्ध नहीं हो सकती। दृश्यांतर के लिए रंगमंच को जब आद्योपान्त मंचीय परिवर्तन करना पड़ जाता है तब रेडियो नाटक एक सहज ध्वनि व्यवधान से दृश्य परिवर्तित कर लेता है। रंगमंच के कथोपकथन जहाँ लम्बे होने पर भी दर्शकों को बाँधे रह सकते हैं, (उदाहरण के लिए शेक्सपियर के हेमलेट का या प्रसाद के स्कन्दगुप्त का लम्बा एकालाप उत्कृष्ट नाटकीय गद्य के प्रमाण बन गये हैं) वहाँ रेडियो नाटक प्रायः छोटे, प्रखर, दूसरे पात्र की उपस्थिति को सम्बोधित करते हुए श्रोताओं के लिए बोधगम्य भाषा में ही होकर अपनी सार्थकता पाते हैं। इसीलिए रेडियो नाटक तीन घंटे की अवधि तक नहीं चलते-वे अपेक्षाकृत छोटी अवधि के होते हैं। सुनने के सूक्ष्म माध्यम होने के कारण भी बोले हुए शब्द की लम्बी अवधि वर्ज्य है। परन्तु रेडियो नाटक को अपने इस सीमित माध्यम के बावजूद कई सुविधाएँ भी प्राप्त हैं। ठीक जैसे अभी हमने दृश्य परिवर्तन की सहज सुविधा की बात की उसी तरह यह अपने चरित्रों के लिए वेशभूषा को मोहताज नहीं होता। इस पर संकलन-त्रयी का कोई बन्धन नहीं है। वह किसी भी समय देश और काल की स्थितियों को लांघ सकता है। अपने शिल्प और कथा-वस्तु के विकास में उसे बीज, विन्दु, पताका, प्रकरी, कार्य आदि का क्रमशः विकसित रूप पकड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसमें चरित्र ही महत्वपूर्ण होते हैं, जो अपने संवादों के माध्यम से अपनी विशिष्ट छाप श्रोता पर छोड़ते हैं—वे सहज सामान्य भी हो सकते हैं और एक विशिष्ट 'टाइप' भी। एक और बात रेडियो नाटक के सम्बन्ध में समझने की है: नाटक वस्तुतः एक सामाजिक क्रिया है, रंगमंच के द्वारा वह दर्शकों में प्रतिष्ठित होता है। दर्शक समूह की प्रतिक्रिया भी प्रायः एक सामाजिक प्रक्रिया ही बनती है। रेडियो नाटक किसी भी श्रोता द्वारा सीधे उसके निजी एकांतिक साम्राज्य में घुसपैठ करते हैं। अतः वह नाटक निजी और एकांतिक प्रतिक्रिया को ही उत्पन्न करते हैं। इस अर्थ में रेडियो नाटक अधिक सार्थक माध्यम बन सका था।

वह मंच की सीमाओं को तोड़ता हुआ अपने लिए उन्मुक्त आकाश चुनता है। वह केवल प्रभाव की सम्पूर्ण अन्विति को ही अपना लक्ष्य मानता है।

जाहिर है कि ऐसे नाटक ध्वनि के प्रभाव से स्थापित होते हैं। इसमें संगीत का उपयोग कल्पनाशील ढंग से किया जाता रहा है। ध्वनि प्रभावों में वर्षा, बादल, युद्ध, समुद्र, रेलगाड़ी, वायुयान, घुड़दौड़ सभी कुछ ध्वनि के माध्यम से श्रोता के दृष्टिजगत में परिवर्तित किया जाता है। संगीत का उपयोग पात्रों की संवेदनशील स्थितियों को उभारने के लिए रचनात्मक ढंग से रेडियो नाटक में हो सकता है। वस्तुत: ध्वनि का यह श्रव्य माध्यम अपनी सहज शक्ति वहीं से लेता है जहाँ से संगीत की कला भी अपनी ऊर्जा ग्रहण करती है। इसलिए अत्यन्त सूक्ष्म पात्र और उनके भीतर अनुस्यूत भाव विचार की आत्मा पात्रों का रूप रखकर श्रोता तक सहज चली जाती है।

रेडियो नाटक के कई रूप विकसित हुए। रेडियो रूपक, रूपान्तर, एकालाप या एकपात्रीय या द्विपात्रीय नाटक, रूमानी फैन्टेसी और संगीत रूपक या अक्सर वृत्तरूप सभी रेडियो नाटक की ही कोटि में माने गये हैं। सङ्गीत, कथोपकथन, कथाविस्तार, संघर्ष और चरम सीमा—यह रेडियो नाटक की मुख्य ढाँचेबन्दी है। कथोपकथन चरित्र की कल्पना के साथ और विशेष स्थितियों में किए गये कथा विस्तार पर निर्भर करता है। तेज़, चुस्त, प्रभावोत्पादक और आकर्षित करने वाला संवाद रेडियो नाटक का प्राण है। लम्बे उबाऊ और बोझिल कथोपकथन अच्छे नाटक को भी ले डूबते हैं। इस नाटक में चरम सीमा ही मुख्य लक्ष्य रहती है। उतार पर आने के पहले ही नाटक समाप्त हो जाता है। यही इसका शिल्प कौशल है।

रेडियो नाटक को विकसित करने में सूत्रधार या 'नैरेटर' की बहुत बड़ी भूमिका रही है। ये वाचक, वाचिका, कथाकार, उद्घोषक-नैरेटर आदि नामों से भी जाने गये हैं। ये नैरेटर अक्सर कथावस्तु को संक्षिप्त करके श्रोता तक पहुँचा देते हैं। लम्बे अन्तराल को संक्षिप्त कर देते हैं और भिन्न देशकाल के पात्र को आपस में जोड़ देते हैं। ये नैरेटर ऐसे भी हो सकते हैं जो सम्पूर्ण नाटक में मात्र तटस्थ होकर लेखक की ओर से बोल रहे हों। दूसरी तरफ ऐसे नैरेटर उस नाटक के एक जीवन्त पात्र भी हो सकते हैं जिनके माध्यम से पूरी कथा चलती रहती है। इनका रचनात्मक उपयोग विरले ही नाटकों में देखने सुनने को मिलता है।

बहुधा तो ये नैरेटर लेखक या उस नाटक के प्रोड्यूसर की बौद्धिक अक्षमता के ही द्योतक होते हैं।

आकाशवाणी से एक ज़माने में रेडियो से उर्दू के अनेक नाटक प्रसारित किए गये। क्रमशः हिन्दी भाषा के भी नाटक हुए। बताते हैं कि १९३६ में दिल्ली केन्द्र ने पहला रेडियो नाटक प्रसारित किया था। पहले अधिकांश रंगमंचीय नाटकों का रेडियो नाट्यशिल्प में संशोधित रूप में प्रसारण किया जाता था। रेडियो नाटकलेखन की विधा स्वतंत्र रूप में बाद में विकसित हुई। 'विकसित हुई' शायद ऐसा कहना ठीक नहीं होगा—बल्कि कहना चाहिए कि इस दिशा में प्रयत्न हुए। मूलतः रंग-मंच के लिए ही नाटक लिखे जाते रहे और उन्हीं के रूपान्तरों को रेडियो मजबूरन करता रहा। उन नाटकों के साथ एक सुविधा भी थी कि वे रंगमंच पर खेले जाने के कारण पहले से ही श्रोताओं में अपनी भूमिका बना चुके होते थे। ऐसा उर्दू, मराठी, बाँग्ला तथा गुजराती भाषा में अधिक हुआ। इधर पिछले पन्द्रह वर्षों में कई बार आकाशवाणी ने मंच पर रेडियो नाटक प्रस्तुत करने के कुतूहल युक्त कार्यक्रम किए जिनमें चरित्र हाथों में नाट्य आलेख लेकर संवाद बोलकर दर्शकों के समक्ष अभिनय करते रहे। ऐसी प्रस्तुतियाँ जो अपनी मूल अवधारणा में ही 'आधा तीतर आधा बटेर' थीं, किसी विशिष्ट विधा को अविष्कृत नहीं कर सकीं।

जैसा कह चुके हैं रेडियो की यह विधा-दृश्यविधा को श्रव्य विधा के माध्यम से पकड़ता रहा है। जगह-जगह टी० वी० या दूरदर्शन की सुविधा जैसे-जैसे फैलने लगी, रेडियो नाटक मूलभूत एकांगी आकर्षण खोने लगा। दृश्य का सहज राजमार्ग उपलब्ध हो जाने के कारण इस 'शार्टकट' का अस्तित्व खतरे में पड़ गया। रेडियो नाटक श्रोता को जिस एकांतिक साम्राज्य में विचरण करने की सहज छूट देता था वह टी० वी० ने भी उसके कमरे में उपलब्ध करा दिया। अब जरूरी नहीं है कि वह अन्य दर्शकों की तरह सबके साथ तालियाँ बजाए, हँसे या रोए। वह अपनी अनुभूति का सृष्टा और मालिक है और उससे प्राप्त होने वाले नतीजे उसी की मिल्कियत होते हैं। इसलिए भी रेडियो नाटक का जो एका-धिकार था वह श्रोता के मनोराज्य में खंडित होता जा रहा है। रेडियो नाटक द्वारा इस आक्रमण को रोकने के लिए किसी नई शिल्प विधि का आविष्कार नहीं कर सका। बहुत कुछ उसी पिटी लीक पर 'अजी सुनती

हो' मार्का नाटकों से वह अपनी अभिव्यक्ति की जड़ों को पुख्ता करना चाहता है। रेडियो नाटक जब तक सामाजिक समस्याओं को किसी निजी संवेदनशील सूत्र से बाँधकर अपने को श्रोता के अन्तस में नहीं उतार पाता तब तक न तो वह अपना नाट्यधर्म ही निबाह पाता है और न सार्थक सम्प्रेषणीयता ही कर सकता है। दुर्भाग्य ही है कि अनेक रेडियो नाटक—प्रोड्यूसरों की दृष्टि इस तरफ नहीं जाती। उन्होंने रेडियो नाटकों को सरकारी प्रचार तंत्र से ऐसे भोंड़े ढंग से जोड़ लिया है कि उनकी रही सही साख भी खत्म होती जा रही है। यदि रेडियो नाटक टी० वी० के समानान्तर चलने की कोशिश करेगा तो अपनी सीमाओं के कारण बराबर मार खाता जाएगा। रेडियो नाट्य लेखन अपने में खासे कल्पनाशील कौशल की माँग करता है। जरूरी नहीं है कि मंच के मान्य लेखक ही रेडियो के नाटक भी लिखें। उनके लेखक अलग हो सकते हैं, ठीक उसी तरह—जैसे फिल्म के सिनेरियों या पटकथा लिखने वालों की अलग जमात बनती रही है। ये भी दुर्भाग्य ही है कि कम से कम हिन्दी में तो रेडियो नाटक को साहित्य की जीवन्त विधा हिन्दी के आलोचकों—अध्यापकों ने कभी माना ही नहीं। वे अब भी साहित्यिक कृतियों के रूपान्तरण को ही रेडियो नाट्य लेखन का पर्याय समझते रहे हैं। इसीलिए रेडियो नाटक लिखने वाले को रेडियो नाट्य लेखन की न तो कहीं प्रारम्भिक जानकारी मिलती है और न उस सम्बन्ध में कोई उसे दीक्षा देने वाला ही है। जो है वह स्वतः प्रतिभा-स्फूर्त है। परन्तु ये इक्का, दुक्का प्रतिभाएँ किसी विधा को स्थापित नहीं कर पातीं। इसे स्थापित करने के लिए स्वयं रेडियो तंत्र ने भी कोई महत्वपूर्ण कदम नहीं उठाएँ। किसी एकेडमी ने रेडियो नाट्य लेखन या उसके किसी अन्य विधा लेखन पर कोई उल्लेखनीय काम किया हो ऐसा देखने-सुनने में नहीं आया। वे केवल छापे के शब्दों तक ही सीमित हैं। ऐसी दशा में वे जो महत्वाकांक्षी लेखक हैं उनको रेडियो नाट्य लेखन की विधा कभी आकर्षित ही नहीं करती। घटिया लेखकों का एक बड़ा हुजूम रेडियो नाट्य लेखन के नाम पर केन्द्रों के आस-पास मँडराता है। अपनी दृष्टि-हीन कल्पना, ठस दिमाग, अनपढ़ प्रोड्यूसरों और घटिया लेखकों की इस जमात के साथ रेडियो नाटक कब तक इसी तरह लकीर पीटता हुआ चलता रहेगा, यह आगे देखने की बात है।

□□

रेडियो फ़ीचर और वृत्तरूपक : चिप्पड़ कार्यक्रम ?

रूपक को साहित्य में अलंकार माना गया है। अतिसाम्य के द्वारा जहाँ अप्रस्तुत का आरोप हो, या जहाँ उस अनुपस्थित वस्तु का बोध हो वहाँ प्राय: 'रूपक-अलंकार' समझा गया है। इसके कई भेद हैं। इस अर्थ में रामायण या पद्मावत भी रूपक ही हैं। इस प्रकार से वहाँ पात्र तो यथार्थ हैं पर अर्थ हमेशा गूढ़ हो गया है। इसी रूप साम्य में रूपक को नाटक का एक अतिरिक्त भेद मान लिया गया है।

रेडियो रूपक नाटक के ही अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है। परन्तु यह रूपक रेडियो नाटक नहीं है। इसमें देशकाल या पात्र का कोई भी बन्धन नहीं है। वस्तुत: रूपकों का यह कार्यक्रम इंग्लैण्ड के ब्रिटिश ब्राडकास्टिंग कार्पोरेशन में अन्य कार्यक्रमों के साथ जो विशेष महत्व के कार्यक्रम थे उन्हें 'फ़ीचर' नाम से अभिहित करके प्रसारित करना शुरू किया गया था। बी० बी० सी० में सामान्य से अधिक महत्ववाले कार्यक्रमों को 'फ़ीचर्ड' प्रोग्राम कहते थे। धीरे-धीरे उसमें से 'डी' अक्षर विलुप्त हो गया और वह कार्यक्रम 'फ़ीचर कार्यक्रम' कहलाने लगा। भारतीय प्रसारण में इस शब्द को ज्यों-का-त्यों ले लिया गया। इस प्रकार यह भारतीय रूपक (नाट्य विधा) और रेडियो की प्रसारण शैली का अनोखा मिश्रण फ़ीचर की विधा के रूप में मान्य हुआ और अब यह शब्द रूढ़ हो गया है।

यह रेडियो की नितान्त निजी कला है जो शब्द, नाद, संगीत और अन्य ध्वनि प्रभावों से जुड़कर एक समग्र प्रभाव उत्पन्न करने का यत्न

करती है। इसमें सामयिक तथ्य भी हैं—कल्पना भी है—पात्र भी हैं, देश भी है, काल भी है। अलग-अलग इसकी कोई इकाई अपना विशिष्ट प्रभाव नहीं छोड़ती। इसलिए इस रेडियो रूपक में बुद्ध से गाँधी तक का काल समेटा जा सकता है, स्वतंत्रता दिवस के कार्यक्रम को भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की राष्ट्रीय चेतना से जोड़ा जा सकता है और अत्यन्त प्राचीन मिथकीय या पौराणिक चरित्रों को आज इस सदी के पात्रों से इसी विधा के माध्यम से आमने-सामने किया जा सकता है। रेडियो-रूपक किसी कथा-विशेष को लेकर चलने के लिए विवश नहीं है। भगीरथ और गंगावतरण की कथा को लेकर आज की किसी नदी परियोजना को बड़ी सरलता से रेडियो-फीचर एकतान जोड़ने में समर्थ है। इस प्रकार देश और काल के बन्धन को नकारते हुए भी उस इकाई का लाभ अभिव्यक्ति के लिए रूपक उठाता है। उसमें आये हुए पात्र अपना अलग व्यक्तित्व नहीं पाते हैं—वरन वे उसी समग्र प्रभाव के ही एक अंश बनकर क्रमशः विलुप्त हो जाते हैं।

रेडियो रूपक या फ़ीचर बहुत कुछ एक वृत्त चित्र के निकट है। वास्तविक तथ्यों को कितने प्रभावशाली नाटकीय ढंग से रखा जा सकता है और कैसे समसामयिक देशकाल में जीवित व्यक्ति या एक पुरानी कथा को या एक अतिरंजित कल्पना को सहज ग्राह्य बनाता है इसकी अभिव्यक्ति में रूखे, ठोस वाह्य जगत के तथ्यों को रोचक और ग्राह्य बनाने का रेडियो फ़ीचर अद्‌भुत उदाहरण है। शब्द और आवाज़ के माध्यम की यह एक बड़ी उपलब्धि है क्योंकि यह अखबारी जगत की स्थूल और कभी-कभी भोंड़ी पत्रकारिता से उठाकर तथ्यों को मानवीय संवेदना का जीवंत अंश बनाने में सक्षम हो जाता है। इसलिए अक्सर इसे यथार्थ और नाटक का कल्पनाशील घोल कहा गया है। जब भी सशक्त रूपक लिखा जाता है, प्रायः वह ऐसी ही प्रतिभाओं के द्वारा कुशलता से सम्पन्न होता है जो पत्रिका का सर्जनात्मक उपयोग करना जानते हैं।

रेडियो रूपक का लेखन बहुत सरल और सुविधाजनक माना जाने लगा है। यह नादानी रेडियो विधा के आकर्षण को कम ही करती है। प्रायः लम्बे-लम्बे वाक्य जो अपने गठन में इतने विषम होते हैं कि उनसे मूल विषय का नाता छूट जाता है, निरर्थक और उबाऊ संवाद-शब्दों का विस्तार जो पात्र या चरित्र को खोलते ही नहीं—अनावश्यक तेज ध्वनि

प्रभावों में डूबते हुए शब्द-यह सब रेडियो-फ़ीचर को एक नीरस और उबाऊ कार्यक्रम में भी परिवर्तित कर देते हैं।

श्रव्य के माध्यम से श्रोता के मन पर जो चित्र स्पष्ट होकर उभरना चाहिए उसमें यह लम्बी वाक्यावली, असहज संवाद और अक्षमता छिपाने के लिए शोर-शराबे वाले ध्वनि प्रभाव अधिकतम बाधक होते हैं। फ़ीचर आलेख के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसकी गतिमयता कहीं भी अवरुद्ध न हो। समग्र प्रभाव विश्रृंखल न हो—चित्र बहुत स्पष्ट बने (यह ध्यान रखना चाहिए कि यह चित्र श्रोता केवल अपनी कल्पना से देख रहा है आँखों से नहीं) इसके लिए कुछ भी जो उबाऊ या नीरस लगता है उस पर कैंची लगा देनी चाहिए। जो संवाद इसमें प्रयुक्त हों श्रोता के मन में यह बोध पैदा कर सकें कि उनके पात्र उनसे बोल रहे हैं, किसी आलेख का वाचन नहीं कर रहे हैं।

किसी भी फ़ीचर को शब्दों में उतारने से पहले उस विषय पर समस्त उपलब्ध सामग्री को समेटना वांछनीय होता है। उस विषय के विशेषज्ञों से भी बातचीत करना उस लेखन का ही एक अंश है। स्वयं लेखक भी उस विषय पर जितनी खोज करेगा वह उसके आलेख को उतना ही प्रामाणिक और मूल्यवान बनाएगा। यह जरूरी नहीं है कि समस्त शोध सामग्री, विशेषज्ञों के वक्तव्य और उपलब्ध मसाला उस आलेख में जबरन घुसेड़ा ही जाय। यह लालच बहुधा आलेख को नीरस, उबाऊ और किताबी बनाता है। लेखक की क्षमता की परख इसी बात से होती है कि वह इतनी मूल्यवान सामग्री को कलात्मक ढंग से मानवीय संवेदना का अंश कैसे बना देता है।

हमारे देश के रेडियो प्रसारण में फ़ीचर कार्यक्रमों का बाहुल्य है। हर केन्द्र दर्जनों फ़ीचर-प्रोग्राम करता रहता है। अब तो पिछले कई वर्षों से फ़ीचर कार्यक्रमों का राष्ट्रीय प्रसारण भी होने लगा है। इनमें जयन्तियों के अनेक कार्यक्रम होते हैं (सूर, तुलसी, कबीर से लेकर सुभाषचन्द्र बोस और जवाहर लाल नेहरू तक) तमाम पंचवर्षीय योजना के मुद्दों पर फ़ीचर प्रोग्राम होते हैं और जैसा कि प्रसारण करने वाले भी इस तथ्य को जानते हैं कि वे फ़ीचर कार्यक्रम प्रचार के घटिया स्तर से उठकर कभी भी कलात्मक उंचाइयों को नहीं छू सके। शायद उन फ़ीचर प्रोग्रामों के लेखकों, कलाकारों और उनके प्रोड्यूसरों को कभी यह आभास भी नहीं होता कि प्रसारण की यह विधा एक नये मनुष्य के

निर्माण में कितनी अहम् भूमिका निभा रही है। शायद इसमें लगे लोग यह सोच भी नहीं पाते कि हम अपनी परम्परा से जुड़कर एक आधुनिक अर्वाचीन को सार्थकता देते हैं। यह सार्थकता भी श्रोता के जीवन को बड़े सन्दर्भ से जोड़ती है। राष्ट्रीय-फ़ीचर-कार्यक्रम को सभी केन्द्रों से अनिवार्य प्रसारण कर देने से ही लक्ष्य की पूर्ति नहीं होगी—जब तक हम आज के सन्दर्भ को अपनी देश की अस्मिता से जोड़ने की समग्र दृष्टि विकसित नहीं कर पायेंगे। रेडियो के बहुत सारे कार्यक्रम जिस तरह सिर्फ लकीर पीटते हुए खानापूरी करते हैं उसका ज्वलंत उदाहरण रेडियो के फ़ीचर-प्रोग्राम हैं। देश की भावी योजनाएँ तब तक हमारे जीवन का अंश नहीं बनेंगी जब तक वे हमारे भारतीय मानस से—उसकी समृद्ध परम्परा से—उसकी घर-घर में बसी धड़कनों से अपने को सार्थक ढंग से जोड़ नहीं पातीं। वे केवल चिप्पड़ों की तरह लगी रहेंगी। रेडियो के फ़ीचर प्रोग्राम चिप्पड़ों का हटाकर पूरे ताने बाने में एक नई डिज़ाइन डाल सकते हैं।

□□

ग्रामीण कार्यक्रम : समग्र दृष्टि का अभाव

भारतीय संस्कृति का मूलाधार ग्रामोन्मुखी है। वह भारतीय जीवन दृष्टि और उसकी व्यावहारिक समझ में सक्रिय योगदान करती रहती है। बिना उसके मूल ढाँचे को समझे हुए भारतीय परिवेश में किसी भी बदलाव की कल्पना नहीं की जा सकती। उसी ढाँचे के भीतर से ही भारतीय अर्थ-व्यवस्था, जन-जागरण, रूढ़ि से मुक्ति और परम्परा से जुड़े रहकर भी आधुनिकता से नाता बनाया जा सकता है। तमाम विकास, औद्योगीकरण और शहरी मानसिकता के बावजूद भारतीय सन्दर्भ में ग्रामीण इकाई बराबर महत्वपूर्ण रही है।

इसी सोच के कारण भारतीय प्रसारण में ग्रामीण कार्यक्रमों को विशेष स्थान दिया गया। बताते हैं कि १६२५ में किन्हीं श्री रूपलाल मलिक को फील्डन साहब ने ग्रामीण कार्यक्रमों का संचालक बनाया था। शुरू-शुरू में इन कार्यक्रमों में गाँव-गिराँव की चलताऊ बातें शहरी दृष्टिकोण से प्रस्तुत की जाती रहीं जिनमें कुछ लोकगीत भी शामिल किए जाते थे। ग्रामीण कार्यक्रमों का यह सिलसिला धीरे-धीरे हर पुराने और नये रेडियो केन्द्रों से शुरू हो गया। उन दिनों गाँवों में न तो बिजली की व्यवस्था थी और न ट्रांजिस्टर सेटों का चलन। इसलिए इन कार्यक्रमों को धुरगाँव में रहने वाले लोग पूरी तरह से सुन नहीं पाते थे। बहुत बाद में जहाँ-जहाँ सामुदायिक-श्रवण-केन्द्र खोले गये वहाँ बैट्री सेटों की व्यवस्था की गयी। वहाँ कुछ सरकारी और कुछ ग़ैर सरकारी तौर पर रेडियो सुनने वाले सदस्यों की एक 'श्रोता-मण्डली' भी बनायी

गयी। लेकिन यह सब तो बहुत बाद की बातें हैं। आजादी के पहले इन ग्रामीण कार्यक्रमों का जो श्रोता था वह अक्सर वह शहरी हुआ करता था जो अपनी ग्रामीण मानसिकता के साथ बिजली-सुलभ-चौहद्दियों में रहता था और अक्सर अपनी मातृभाषा में गाँव की बोली सुनने के आकर्षण में उस कार्यक्रम से बँधा रहता था। ऐसे सुनने वालों की संख्या प्रत्येक घर में मौजूद थी जिनकी जड़ें गाँव में थीं। इन कार्यक्रमों को करने वाले लोग भी शहरी होते थे। ग्रामीण कार्यक्रमों की अतिशय लोकप्रियता का रहस्य बोलियों के आकर्षण में था—न कि गाँव के आर्थिक-विकास में। विडम्बना यह थी कि 'अतिशय-लोकप्रिय' होने और देश के अधिसंख्य ग्रामीण श्रोतावर्ग का प्रतिनिधित्व करने के बावजूद इस कार्यक्रम को 'माइनॉरिटी प्रोग्राम' या अल्पसंख्यक-प्रोग्राम के नाम से जाना जाता था। ब्राडकास्टिग के पूरे ढाँचे में ग्रामीण-कार्यक्रनों की हैसियत बहुत नीची थी। कमोबेश यही स्थिति तो अब भी है।

शुरुआती तौर पर जब यह कार्यक्रम प्रारम्भ हुआ तो इसमें समग्र-ग्रामीण जीवन को समेटने की परिकल्पना थी। खेती-बारी और उसके द्वारा जीवन-यापन भारतीय ग्रामव्यवस्था में मूलतः एक जीवन दृष्टि ही रही है। वह जिस तरह दैवयोग और मानवीय उद्योग को जोड़कर सम्पूर्ण जीवन दर्शन को लोक-व्यवहृत बनाती रही है—रेडियो प्रसारण ने उसी को सम्बोधित करना प्रारम्भ किया था। इसके लिए प्रसारण की विभिन्न विधाओं का उपयोग ग्रामीण श्रोता की दृष्टि से किया गया-चाहे वह लघुवार्ताएँ हों, छोटे नाटक, संगीत रूपक, लोकनाट्य हों, बोलियों में कविता पाठ हों, रामचरितमानस जैसे ग्रन्थों से पाठ हों, लोकगीतों के विभिन्न प्रकार हों, परिचर्चाएँ हों—यह सब कार्यक्रम उसी सम्पूर्ण ग्रामीण जीवन-दर्शन को ध्यान में रखकर इसमें शामिल किए गये। इस प्रकार यह ग्रामीण कार्यक्रम एक रेडियो केन्द्र के भीतर एक दूसरा 'मिनी रेडियो स्टेशन' होकर चलता था। उसमें सभी विधाओं का उपयोग अपने सशक्ततम रूप में प्रकट होता था। इसी में क्रमशः मनोरंजन के साथ उपादेयता और अप्रत्यक्ष शिक्षण के अनेक प्रावधान प्रयुक्त हुए। कुछ ऐसे चरित्रों का निर्माण भी उत्तर भारत के कुछ रेडियो केन्द्रों पर हुए जिनकी छाप लोक मानस में गहरे पैठ गयी—पटना केन्द्र के लोहासिंह, लखनऊ केन्द्र के बहरे बाबा, जालन्धर केन्द्र के चाचा और इलाहाबाद केन्द्र के झगड़ महाराज—ऐसे ही अद्भुत चरित्र थे। इनके माध्यम से

बहुत सी बातें पूर्वाग्रही श्रोता के मानस में बिठाने का यत्न किया जाता था।

१९६० के दशक में खेतीबारी में एक नयी क्रांति आयी जब हिन्दुस्तान की पारम्परिक फसलों में नये उन्नतिशील बीज का सहसा प्रादुर्भाव हुआ। जापानी और चीनी कृषि प्रक्रियाओं ने इस देश के कृषि अनुसंधान पर ऐसा प्रभाव डाला कि अधिक उपज का मोह ग्रामीण क्षेत्रों के खेतिहर किसानों को अपनी लीकवाली खेती छोड़कर नई पद्धति अपनाने को मजबूर करने लगा। ग्रामीण कार्यक्रमों में इस कृषि-क्रांति के फलस्वरूप एक नई दृष्टि पैदा हुई। सन् १९६६ में देश के लगभग १० केन्द्रों पर सघन खेतीबारी के कार्यक्रमों को लागू करने और इस क्रिया-प्रतिक्रिया में किसान की सीधे साझेदारी को शामिल करने के लिए कार्यक्रम 'फार्म एण्ड होम यूनिट' के नाम से एकांश खोले गये जो क्रमशः अब सभी केन्द्रों में खुल गये। इन एकांशों ने जिनकी संख्या सन् १९८३ में ही ६१ से ऊपर थी, ग्रामीण कार्यक्रम को खेतीबारी की उपज से सीधे जोड़ दिया। अन्य सभी कार्यक्रम जो ग्रामीण श्रोताओं के लिए किए जाते थे वे अनुशांगिक हो गये। इसमें जो कुटीर उद्योग या अन्य नगदी फसलों के कार्यक्रम शामिल भी हुए वे देश के औद्योगीकरण की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए एक अप्रत्यक्ष साधन रह गये। इस प्रकार इन 'फ़ार्म और होम' एकांशों ने जहाँ देश में खेती की पुरानी पद्धति से मुक्ति दिलाकर नये उपलब्ध साधनों की जानकारी किसानों तक पहुँचाकर उपज को 'रिकार्ड उत्पादन' में परिवर्तित कर दिया, वहाँ एक औसत भारतीय किसान की जीवन दृष्टि और उसके सामाजिक मूल्यों का क्षरण भी किया। खेतीबारी-जीवन यापन का दर्शन न रहकर व्यावसायिक उद्योग में परिवर्तित होने लगी। इसके तात्कालिक नतीजे किसान, शहरी लोग और शासन तीनों के लिए फायदेमन्द थे लेकिन भारतीय मूल्यों की जो सहज अस्वीकृति इसके बीच से जन्मी उसके परिणाम अब सामने आ रहे हैं।

हुआ यह कि यह देहाती प्रोग्राम धीरे-धीरे पंचवर्षीय योजना का एक हिस्सा या कहिए प्रमुख प्रवक्ता बन गया। 'विकास' नाम की प्रक्रिया उतनी ही दूर तक मानवीय संकल्प को परिचालित करने तक सीमित हो गयी जो एक तरह के आर्थिक पूँजीकरण में सिमटने लगी। सुविधाओं की अधिक तलाश और उपभोक्ता संस्कृति का आकर्षण गाँव के सामान्य

रहने वाले को शहर की तरफ खींचने लगी। वह रिक्शा चलाकर सस्ते सिनेमाई गाने गुनगुनाकर अपना पेट पालने में और किसी अँधेरी कोठरी में अपने परिवार को रखकर जिन्दगी से जूझने में अधिक मज़ा लेने की कल्पना में खो गया—बजाय इसके कि वह अपने गाँव में अपने लिए जिन्दगी का कोई सहारा खोजता। इस तरह गाँधी के आत्मनिर्भर 'गाँव' की कल्पना रेडियो के प्रोग्रामों में केवल कुतूहल के विषय बने रहे जिन्हें विशेष 'जयन्ती' प्रोग्रामों पर प्रसारित किया जाता रहा। गाँव में जो समृद्ध किसान थे वे ही रेडियो के इन कार्यक्रमों से समृद्धतर बने। बी० डी० ओ०, ब्लाक-प्रमुखों, ग्राम प्रधानों तथा लेखपाल और ग्राम सेवकों की जो चौकड़ी बनी, रेडियो का देहाती प्रोग्राम उसी के जरिए सम्पूर्ण विकास के सपने को देखने लगा। प्रचारों के आँकड़े और उनके तात्कालिक प्रभाव-नसबन्दी से लेकर 'साधन-सहकारी-समितियों' के पाखण्ड की जो कागज़ी कार्यवाही हुई, रेडियो का देहाती प्रोग्राम उसी का अधिकृत प्रवक्ता बना रहा। लम्बी मार करने वाली निशानेबाजी उसने छोड़ दी जो खेत और खाद पर नहीं बल्कि सम्पूर्ण निर्माण का लक्ष्य रखती थी। यहाँ तक कि जो पारम्परिक लोकगीत या लोककथाएँ थीं उनमें भी पेंचोख़म डालकर उन्हें प्रचार तंत्र का अंग बनाया गया—परन्तु पनघट या चौपाल की जगह 'ट्यूबवेल' या पंचायत-भवन ले नहीं पाया।

ग्रामीण कार्यक्रम ने सहज भोले-भाले ग्रामीण मानस में उपभोक्ता संस्कृति की अनेक महत्वाकांक्षाएँ जगा दीं लेकिन उसके जो प्राप्ति के साधन बताए वह व्यावहारिक जीवन में कभी भी सुलभ नहीं थे। बीस सूत्रीय कार्यक्रम अनेक भ्रष्टाचार के प्रतीक बन गये। अक्सर रेडियो की ग्रामीण कार्यक्रमों की मण्डली जब गाँवों से प्रोग्राम रिकार्ड करने के लिए सुदूर अंचलों में जाती तो उसे तमाम व्यंग्य-बाणों का शिकार होना पड़ता—अनेक अनुदानों को खा गये भ्रष्टाचारी सरकारी कार्यकर्त्ताओं के कारनामे सुनने को मिलते-जिसका कोई निराकरण चूँकि इन मण्डलियों के पास नहीं होता इसलिए वे अपनी साख क्रमशः खोते गये। जो समृद्ध ग्रामीण थे, जिनकी पहुँच शहर के आला अफसरों और 'विकास कमेटियों' तक थी, वे रेडियो कार्यक्रम के 'लाभान्वित श्रेणी' में सहज ही आ गये! इससे भी वे जो ग़ैर-सुविधा प्राप्त थे और बराबर 'कृपापात्र' होने से छूट जाते थे उनके मन में भी इस तरह के पाखण्डी प्रोग्रामों से वितृष्णा होने लगी। जितना ही ऊपर से चमकदार मुलम्मा किया जाता उतना

ही क़लई खुलने पर भीतर की धातु निकम्मी दिखाई पड़ती।

ट्रांजिस्टर सेटों के सुलभ हो जाने के कारण गाँव में रेडियो की सुनवाई बहुत बढ़ी है। श्रोता अपने सभी काम करते हुए रेडियो से सम्बन्ध बनाए रखता है। उसे अब भी आशा है कि ग्रामीण-कार्यक्रम उसके अनपढ़ होने के बावजूद सही दिशा में मार्ग निर्देश कर सकता है। "यह आसा-अटक्यौ रह्यौ, अलि गुलाब में····।" इन कार्यक्रमों में समग्र दृष्टि का जब तक अभाव बना रहेगा हम भारतीय मूल्यों की रक्षा नहीं कर पायेंगे। इस कार्यक्रम की परिकल्पना और संचालन करने वाले केवल वही लोग न हों जिन्होंने खेतीबारी में डिग्रियाँ हासिल कर रखी हैं बल्कि ऐसे लोगों को यह कार्यक्रम सौंपे जायँ जिनके पास भारतीय जीवन मूल्यों की स्पष्ट समझ हो। उन्हें लोकरुचि के कार्यक्रमों से उन मूल्यों की पुन-स्थापना और सार्थकता के लिए काम करने का अनुभव हो। यह नहीं भूलना चाहिए कि देश की आबादी का लगभग अस्सी फीसदी हिस्सा अब भी गाँवों में आता है। इनकी दृष्टि में यदि सार्थक बदलाव हुआ तो वे देश की अस्मिता की रक्षा कर पायेंगे। वे न परम्पराओं की रूढ़ि पकड़ कर शव-साधक बनेंगे और न आधुनिकता के पीछे 'जेट-स्पीड' से दौड़ते हुए हाँफ-हाँफ कर जान दे देंगे। ग्रामीण कार्यक्रमों का प्रसारण देश की समस्त आचरणशीलता और तेजस्विता को एक साथ प्रकाशित करता है। यह तो दुर्भाग्य ही है कि शहरी दिमाग़ इसको अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए इसका गलत इस्तेमाल करके इस पर नकली मुखौटे लगा देता है।

□□

ग्रामीण भाषा और बोली का प्रयोग

ग्रामीण कार्यक्रम की प्रस्तुति में भाषा और बोलियों के स्थान और उनके महत्व की ओर हमारा ध्यान जाना स्वाभाविक ही है क्योंकि वही माध्यम है जिसके द्वारा हम अपने विचारों को ग्रामीण क्षेत्रों में पहुँचाते हैं और यह विश्वास करते हैं कि उसके प्रचार-प्रसार से उसकी स्वीकृति होगी और उसके फलस्वरूप हम नये निर्माण के सपने देखते हैं। चूंकि रेडियो केन्द्रों की संख्या इतने बड़े देश को देखते हुए अब भी सीमित है अतः हम उन्हीं सीमित केन्द्रों में विभिन्न बोलियों का प्रयोग इस तरह से करते हैं कि उसके माध्यम से अधिक से अधिक लोगों को रेडियो प्रसारण की सुविधा उपलब्ध हो सके।

पहिले विभिन्न केन्द्रों पर भाषा और बोलियों के बीच किसी निश्चित संतुलन की योजना नहीं थी। परन्तु पिछले कुछ वर्षों से इस दिशा में एक व्यवस्था हुई है और कम्पीयरिंग के क्षेत्र में विभिन्न क्षेत्रीय बोलियों के एक-एक प्रतिनिधि के अतिरिक्त मुख्य कम्पीयर के रूप में क्षेत्रीय भाषा बोलने वाले व्यक्ति को प्रस्तुत किया जाता रहा है जो विभिन्न कम्पीयरों के बीच एक सन्तुलन बनाए रखता है और सारे कार्यक्रमों को भाषा के माध्यम से प्रसारित होने में सहायता देता था।

कम्पीयरिंग के अतिरिक्त अन्य कार्यक्रमों में वार्ता के अतिरिक्त अभी कोई निश्चित स्थिति नहीं है। वार्ताएँ प्रमुख रूप से केवल भाषा में ही प्रसारित होती हैं। नाटक और रूपक अक्सर भाषा में और कभी-कभी स्टाफ कैरेक्टरों के द्वारा बोलियों में प्रसारित होते हैं। भाषावाले नाटकों

के बीच में भी बोलियों का प्रयोग करके उन्हें लोकरुचि के अधिक निकट करने का प्रयत्न किया जाता है। कवि गोष्ठियों में अधिकतर उन कवियों को निमंत्रित करने की चेष्टा करते हैं जो अपनी आंचलिक बोलियों में रचनाएँ करते हैं और जिनमें अक्सर देश के नव जागरण की कथा कहते हैं। लोक संगीत ही एक ऐसा विशिष्ट कार्यक्रम है जिसके अन्तर्गत अनिवार्यतः बोलियों का प्रयोग पूरी तरह से होता है। ऐसा दो कारणों से होता है—एक तो इसलिए कि अधिकांश लोकगीत बोलियों में ही रचे गये हैं और उसी तरह से वे प्राप्त करके प्रसारित किए जाते हैं और दूसरे यह भी कि गीतों के लिए बोलियों की मधुरता प्रायः आवश्यक सिद्ध होती है और उसके लालित्य में वृद्धि करती है। इसके अतिरिक्त किसानों से भेंटवार्ता तथा दूसरे इसी तरह के कार्यक्रम खिचड़ी-भाषा में ही प्रसारित होते रहते हैं।

भाषा और बोलियों का जो भी उपयोग इस समय हो रहा है वह एक संक्रान्ति काल की स्थिति को प्रकट करता है। इसीलिए विभिन्न बोलियों तथा उसकी मुख्य क्षेत्रीय भाषा के बीच का संयोजन एक तरह का नकली वातावरण हमारे कार्यक्रमों में बराबर प्रस्तुत करता रहता है। श्रोता को प्रायः यह भान होता रहता है कि जितने भी व्यक्ति पंचायत में बैठे बात कर रहे हैं वे एक तरह का नाटक कर रहे हैं और सब कुछ जानते-बूझते हुए भी केवल उन्हें अपनी बात समझाने के लिए एक प्रकार के नाटक को अपने ऊपर आरोपित करते रहते हैं। इसका भान होते रहने से जिस सहज भाव से वह सारे कार्यक्रम को अपना समझकर ग्रहण करता—वह उस बोध में बीच-बीच में रोड़े अटकाते रहते हैं।

जब हम इस स्थिति को संक्रांति काल कहते हैं तब भाषा और बोलियों के उन संभावित परिवर्तनों को ध्यान में रखकर कहते हैं जो आगे आने वाले भविष्य में पूरे संसार या हमारे देश में विभिन्न परिस्थि-तियों के कारण हालात उत्पन्न हो सकते हैं। इस समय देश अपनी पुरानी रूढ़ियों को भरसक छोड़कर नई प्रगति के साथ कदम से कदम मिलाकर दौड़ने के प्रयत्न में है। कृषि की सम्पूर्ण व्यवस्था में औद्योगिक क्रांति की बड़ी महत्वपूर्ण छाप है। हर क्षेत्र में उसके अंश दिखाई पड़ रहे हैं। पारिवारिक जीवन टूट रहा है। नागरिक सभ्यता अनेक रूपों में हमारे गाँवों में घुसपैठ कर रही है। इसके अतिरिक्त विज्ञान की अनेक सुविधाएँ

ग्राम के आर्थिक ढाँचे पर अपना प्रभाव डाल रही हैं। बाँधों और जलाशयों से आई हुई बिजली, ट्यूबवेल, बिजली चालित कर्घे तथा अन्य ऐसे उपकरण हमारे दैनिक जीवन के अंग बनते जा रहे हैं! गाँव में बैलगाड़ी रखने वाला किसान अब ट्रक रखने के सपने देखता है। ऐसी दशा में यदि हमारी भाषा और बोलियाँ उस जीवन को पूरी तरह से परिलक्षित करने में समर्थ न हुई तो हमारा काम और भी कठिन हो जाएगा—क्योंकि हम उन्हें नई दिशा की ओर जिस माध्यम से ले चलना चाहते हैं, वह उनके लिए सक्षम ही नहीं होता।

बोलियों की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं और कुछ उनकी सीमाएँ। हमें दोनों पर विचार करना चाहिए। जब हम बोलियों का प्रयोग करते हैं तो तत्काल अपने श्रोता से एक निजी सम्पर्क स्थापित कर लेते हैं। और वह हमें अपने परिवार या अपने घर का प्राणी समझकर हमारी बात सुनता है। इसीलिए हमें अपनी बात मनवाने के लिए विशेष यत्न नहीं करना पड़ता। दूसरी विशेषता बोलियों के प्रयोग से यह आती है कि उससे एक तरह का स्थानीय रंग पैदा हो जाता है और सुनने वाले उसे अपने ही से संबंधित वस्तु समझकर अधिक रुचि लेते हैं। बोलियों के भीतर बसा हुआ हमारा संस्कार हमारे अनेक पूर्वाग्रहों को हटा देता है और उसकी मधुरता सुनने वालों में एक नये रस का संचार करती रहती है। बोलियों की यह सरल प्रवृत्ति ही उसकी सीमाएँ भी बनाती हैं। बोलियों के माध्यम से जो कुछ ज्ञान-विज्ञान की बातें कही जाती हैं वे वस्तुतः भाषा के माध्यम से ही कही जाती हैं भले ही उनमें क्रियापद कहीं-कहीं बोलियों के आते हों। जब हम किलोवाट, मेगाटन, पानी की क्यूसेक—निकालने की चर्चा या विदेशी अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियों की चर्चा या आर्थिक नीतियों की चर्चा करते हैं तो हमारी बोलियों की प्रवृत्ति बहुत दूर तक हमारी सहायता नहीं कर पाती हैं। वहाँ हमें एक नकली भाषा गढ़नी पड़ती है जो न तो बोली है और न भाषा। ज्यों-ज्यों हमारे कार्य व्यापार में अधिक दक्षता आने लगेगी हम कृषि, इंजीनियरिंग, विज्ञान, स्वास्थ्य, मौसम तथा अन्य इसी प्रकार के विषयों को जानना चाहेंगे और उसमें दक्षता हासिल करने लगेंगे वहाँ बोलियों के प्रति हमारा मोह आड़े आएगा और तब उन्हें हमको छोड़ना ही पड़ेगा। पिछली कई शताब्दी के सरल एवं सीधे-साधे ग्राम जीवन को हमारी बोलियाँ बड़ी कुशलता से बाँधकर रखती रहीं किन्तु अब जिस तरह का

परिवर्तन आसन्न है उसमें उसकी सक्षमता पर एक प्रश्नचिन्ह लगने लगता है। अपने निजी अनुभव में भी मैंने देखा है कि शहरों से काफी अन्दर बसे हुए गाँवों के प्रगतिशील किसान जब अपनी कठिनाइयों या उपलब्धियों का वर्णन करते हैं तो वे एक शुद्ध भाषा का प्रयोग करते हैं और अक्सर हम रेडियो वाले ही प्रश्नकर्ता के रूप में केवल ग्रामीण बोलियों का इस्तेमाल करते रह जाते हैं और वे एक चतुर नागरिक की तरह हमारे नाटक पर मुस्कुराते हैं। बोलियों का प्रयोग हमारे प्रसारण के क्षेत्र को सीमित भी बनाता रहता है। दूसरे क्षेत्र के श्रोताओं को उन बोलियों को समझने के लिए अतिरिक्त परिश्रम करना पड़ता है। इसीलिए एक और प्रक्रिया प्रसारण और श्रोता के बीच में आ जाती है।

ऐसी दशा में बोलियों का क्या स्थान हो ? क्या उन्हें एकदम छोड़कर चला जा सकता है ? मेरा विचार है शायद नहीं। ऐसा करने से हम अपने श्रोता को खो सकते हैं। जो बात क्रमशः उसी के द्वारा भीतर से विकसित होकर आएगी उसे हम यदि इस तरह से आरोपित करेंगे तो वह अकारण सशंकित हो जाएगा और उसे अपनी बोली के प्रति जो घरेलू मोह है, वह हमारे कार्यक्रमों के प्रति एक विदेशी भाव पैदा करा देगा।

इस दिशा में हमें एक समझौते पर चलना होगा और वह भी एक व्यापक क्षेत्र में। हमारा विकास दो अंशों से निर्मित होता है—एक तो वह जो हमने अपनी परम्परा से पाया है और दूसरे वह जहाँ अपनी रूढ़िगत परम्पराओं को तोड़कर हम नये विकास की ओर बढ़ते रहते हैं। जो वस्तुएँ हमारी परम्परा की धरोहर हैं—जिनमें हमारी संस्कृति के वे मूल तत्व छिपे हुए हैं जो हमारे संकल्प को, निश्चय को-एक महत्व प्रदान करते हैं उनके लिए हमें बोलियों का उपयोग करना श्रेयस्कर होगा। क्योंकि उस क्षेत्र के वे अंश हमारे सामने आते ही हमारे खून में बस जाते हैं क्योंकि वे हमारे चिर-परिचित होते हैं—केवल एक बार उनकी खनक उठती है और हम उसे पहिचान कर फिर अपने ही भीतर उसे स्वीकृति दे लेते हैं। लोकगीत इसके सबसे अच्छे उदाहरण हैं जिनमें मानव का परस्पर प्रेम, सद्भावना, त्याग, तपस्या और सत्य के लिए मर-मिट जाने की कथा अनेक रूपों में बार-बार दुहराई गयी है। ये गीत जब-जब इन भावों को हमारे सामने लाते हैं तब तक हमें वही परिचित अनुभूति होती है। इसीलिए जब भी हमें अपनी परम्परा की उस शृंखला

या कड़ी को जगाना हो जिससे हम अपने श्रोताओं को जोड़ना चाहते हों तो बोलियों का उपयोग बहुत आवश्यक है। क्योंकि वह हमें बड़ी जल्दी सफलता दिलाएगी। किन्तु जहाँ हमें उन रूढ़ियों को तोड़ना हो, एक नये विकास की ओर ले चलना हो वहाँ भाषा का उचित एवं सरल प्रयोग हमारे लिए अधिक सुविधाजनक होगा क्योंकि नयी बातों को कहने के लिए भाषा का यह माध्यम बहुत निकट पड़ेगा।

बोलियों और भाषा का एक ऐसा संतुलन बनाने की भरपूर चेष्टा होनी चाहिए जिससे देश में तथा विभिन्न क्षेत्रों में विविधता के साथ एकरूपता का चित्र खड़ा हो सके। बोलियों की भाषा से लड़ाई नहीं है। बोलियाँ भाषा को समृद्ध करती हैं। रेडियो से प्रसारण करने वालों को यह संतुलन बनाए रखना चाहिए।

□□

...'लीजिए भक्ति संगीत का कार्यक्रम सुनिए'...

आकाशवाणी से प्रसारित होने वाले जो कार्यक्रम अब भी बड़ी संख्या के श्रोताओं में सुने जाते हैं, उनमें प्रमुख है प्रात:कालीन सभा का भक्ति-परक कार्यक्रम 'आराधना' जिसे विभिन्न केंद्र अलग-अलग ढंग से नाम-करण करते हैं। कहीं यह कार्यक्रम 'वंदना' के नाम से, कहीं 'सुप्रभातम्' के नाम से, कहीं 'वंदनवार' और कहीं 'मंगल प्रभातम्' इत्यादि अनेक नामों से उद्घोषित होते हैं। तमाम संस्कारी भारतीय घरों में बड़े-बूढ़ों के द्वारा यह कार्यक्रम चाव से सुने जाते हैं और रेडियो की सार्थक उप-स्थिति को स्वीकृति देते हैं। उच्चै:श्रवा-धर्मनिरपेक्षता की सरकारी नीति के बावजूद इस प्रकार के कार्यक्रमों का दूर-दूर तक सुना जाना—भारतीय मानस की बुनियादी बुनावट की पहचान को रेखांकित करता है।

प्रसारण के शुरुवाती दिनों में इस तरह के प्रोग्राम हमारे यहाँ नहीं हुआ करते थे। प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद ने रेडियो के इस ढंग के भक्तिपरक संगीत में अपनी रुचि दिखलाई। इसके बाद जब डा० राधाकृष्णन उपराष्ट्रपति हुए तो उन्होंने न केवल दिल्ली रेडियो केन्द्र से इस प्रकार के भक्ति संगीत में रुचि दिखाई वरन् उसमें जोड़-घटाव के सुझाव भी दिए। देश की सर्वोच्च सत्ता की विशिष्ट रुचि के कारण इस कार्यक्रम पर सहसा ध्यान केन्द्रित हुआ और यह प्रोग्राम महत्वपूर्ण बन गया। प्रसारण मंत्री डा० केसकर ने भी इस कार्यक्रम को सुरुचिपूर्ण और व्यापक बनाने में सहयोग किया। प्रधानमंत्री श्री लाल बहादुर शास्त्री

का परिवार भी इस कार्यक्रम में योगदान करता रहा—स्वयं श्रीमती ललिता शास्त्री ने तो इस कार्यक्रम के लिए कुछ गीतनुमा पद भी लिख कर दिए जो गाए गए। अब यह भक्तिपरक संगीत का कार्यक्रम लगभग सभी केन्द्रों से प्रसारित होता है। इसमें हिंदी के अतिरिक्त क्षेत्रीय भक्ति संगीत को प्रमुखता दी जाती है। यद्यपि इस कार्यक्रम के मानक स्तर में बड़ा उतार आया है किन्तु इसकी सुनवाई कुछ बढ़ी ही है—घटी नहीं!

भारतीय जीवन के मूल तन्तु से जुड़ होने के कारण इस कार्यक्रम को जो गरिमा और महत्व मिलना था, वह कालांतर में इसे केवल 'रुटीन' या यथाक्रम प्रोग्राम मान कर कागज़ी बंडलों में डालकर ही—उत्तरोतर क्षय कर दिया गया। इस तरह के कार्यक्रमों पर केन्द्र का कोई ज़िम्मेदार या 'समझदार' प्रोग्राम करने वाला अब अपना वक्त 'बरबाद' नहीं करता। अक्सर रोज़-रोज़ के झमेले से बचने के लिए तमाम भक्तिगीतों के ग्रामोफोन रिकार्ड निकाल कर, उन्हें लम्बी अवधि के 'टेप' (ध्वनिफ़ीतों) में एक साथ उतार लिया जाता है और फिर हफ्ते-वारी के हिसाब से उन्हें श्रोताओं की घुट्टी में डाल दिया जाता है। यह बारहमासी क्रम हर प्रस्तुति में कल्पना और उसके नएपन के अभाव को तो घोषित करता ही है—उसकी उबाऊ एकरसता श्रोताओं की लौकिकता की जकड़बन्दी भी करती है और उनके रसानुभव को जड़ भी बनाती है।

भक्तिमूलक रचनाएँ या भक्तिपरक संगीत भारतीय संस्कृति की अमूल्य और अत्यंत सम्पन्न पूंजी है। मध्ययुगीन काव्य का भक्ति साहित्य केवल हिंदीभाषी क्षेत्र में ही नहीं, अन्य प्रादेशिक भाषाओं में भी अपने सर्वोत्कृष्ट होने का सही दावा करता है। इस भक्ति साहित्य से गहरा लगाव, उसका अध्ययन और तब आधुनिक श्रोता के लिए उस पूरे रस समुद्र में से कुछ चमकते हुए मोती खोज कर लाना और उन्हें सँवार कर प्रस्तुत करना—कठिन परिश्रम और सूझ-बूझ की माँग करता है। इसे करने वाला रसिक स्वयं एक रचनात्मक अनुभव से गुज़रता हुआ उस आनंद का उपभोक्ता होता है। रेडियो में आए दिन 'गीतों भरी कहानी' तैयार करने वाले फ़िल्मी गीतों के माध्यम से जिस तरह एक नए नायक और नायिका का दिलफ़रेब मंज़र खड़ा कर देते हैं—और कमसिन सुनने वालों का मन मोह लेते हैं—वस्तुत: उससे कहीं अधिक कल्पना-

शीलता और भारतीय मानस में गुँथी हुई, आम आदमी के जीवन में पिरोई हुई उस संस्कृति की समझ की ज़रूरत इस कार्यक्रम को करने के लिए पड़ सकती है। ये रचनाएँ मनुष्य की आस्था वापस लौटाने में कारगर होती हैं—उन्हें ज़िंदगी की चुनौतियों को झेलने की शक्ति देतीं हैं। यही इस तरह के कार्यक्रमों का महत्व और परोक्ष उपयोगिता है।

एक बार यदि इस कार्यक्रम के महत्व को आँक लिया जाय, तो फिर रचनाओं का चुनाव करते समय सामान्य सावधानी से भी अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है। सभी संत कवियों का रचा हुआ पद या काव्य-एक जैसा ही है, यह मानकर चलने वाले कार्यक्रम की दृष्टि से भारी भूल कर बैठते है! कबीर, मीरां, नानक, सूर, मलूकदास तुलसीदास, यारी साहब, पीपा या नज़ीर अकबराबादी भक्तिपरक रचनाएँ लिखते हुए भी अपनी निवेदन-दृष्टि में भिन्न हैं। उन्हें गड्डमड्ड नहीं किया जा सकता। यही निवेदन-दृष्टि श्रोता तक सार्थक ढंग से प्रेषित होनी चाहिए। जितना ही यह चयन सटीक, अवसरानुकूल और भावानुकूल होगा—उतनी ही तीव्रगति से प्रेषणीयता अपनी सम्पूर्ण प्रामाणिकता के साथ श्रोता को उपलब्ध होगी! विशेष अवसरों पर सगुण लीला के पद,-या विनय और दैन्य के पद, या विरुद गायन—सगुण भक्तिपदावली या उसी तरह निर्गुनियाँ संतों की रचनाएँ भी इस कार्यक्रम में नए अंदाज़ से दी जा सकती हैं! निर्गुण साधना से सगुण उपासना के पद भी रचनाक्रम में आ सकते हैं और उसके विपरीत सगुण से निर्गुण की ओर भी यह रचनाश्रृंखला क्रमशः ले जा सकती है। इसी बनाव सजाव में कार्यक्रम तैयार करने वालों की क्षमता और गहन ज्ञान का बोध श्रोता तक अव्यक्त रूप में पहुँचाता है! अन्यथा 'जाके प्रिय न राम वैदेही' (तुलसी) पद के साथ यह कवि जयदेव के गीत गोविंद से—'गोपी पीन पयोधर मर्दन चंचल कर युगशाली.....' लगा देता है तो रस की क्षति के साथ सुनने वाले के लिए खिन्नता का भाव आना भी संभव है। हो सकता है कि श्रोता के मन में तुलसी और जयदेव दोनों के लिए ही आदर हो किन्तु इस हरकत से वह आदर भाव खंडित होता है।

अक्सर इस भक्तिपरक संगीत कार्यक्रम में– समझाने के हेतु या रचनाओं का स्पष्टीकरण देते हुए एक पूरक गद्यात्मक टिप्पणी या

व्याख्या भी दी जाती है जो रेडियो की भाषा में 'कमेंट्री' कहलाती है। यह 'कमेंट्री' प्रोग्राम प्रस्तुत करते समय एक रचना और दूसरी रचना के अंतराल को भरने के लिए की जाती है और अगली रचना की भावभूमि को उजागर करने के लिए होती है। किंतु अक्सर यह 'कमेंट्री' इतनी घटिया होती है कि पूरे कार्यक्रम के ढाँचे को बरबाद कर देती है। यह उन उद्घोषकों के द्वारा लिखी और पढ़ी जाती है जो रिकार्ड पर लिखी हुई भजन की पहली लाइन, टेक या मुखड़े से सीधे उठा कर उन्हें परस्पर जोड़ देते हैं। इसीलिए रचना के मूल अर्थ से उनका कोई सरोकार होता ही नहीं। इस प्रकार की कसरत पूरी कमेंट्री को अक्सर निरर्थक और प्रसंगहीन बनाती है। वस्तुतः संत कवियों के ये अलौकिक अनुभव जो उनकी शब्द रचना से श्रोता तक पहुँचते हैं, अपने स्पष्टीकरण के लिए किसी चलताऊ टिप्पणी के मोहताज नहीं रहते। उनके भीतर का रस छन-छन कर आता रहता है और बहुत कुछ गूँगे के गुड़ के स्वाद की तरह श्रोता से अपना रिश्ता बनाता है। कभी-कभी तो यह दुराग्रहपूर्ण 'कमेंट्री' ऊब और खीझ पैदा कर देती है जैसा कि एक महिला उद्घोषिका ('विविध भारती' के 'वंदनवार' कार्यक्रम में!) भक्ति रचनाओं के बीच-बीच में पी० एचडी० थीसिस के अंश बोलने लगती थीं और उबाऊ स्थिति बनाती थीं!! यदि सम्पूर्ण भक्ति संगीत कल्पनाशील मानस के साथ सँजोया गया हो, तो कमेंट्री की आवश्यकता पड़नी ही नहीं चाहिए। एक के बाद दूसरा-रचना का प्रस्तुतिक्रम ही पूरी धारा को गतिमान बनाता चलता है। जहाँ रचनाओं के चयन में बहुत व्यापक पृष्ठभूमि समेटी गई हो, उसका बड़ा 'कैनवेस' हो वहाँ ऐसी कमेंट्री हो सकती है जो संक्षिप्त और सारगर्भित हो और जो अगली रचना की भावभूमि में श्रोताओं की पैठ को सरल कर सके। रसग्रहण की प्रक्रिया में विद्वत्ता का बोझ प्रस्तुतियों की निर्ममता से हत्या करता है।

'धर्मनिरपेक्षता' की दुहाई देते हुए अक्सर इस तरह के कार्यक्रम में विभिन्न धर्मावलंबियों की पवित्र रचनाएँ प्रायः बिना किसी भूमिका के, पैबंद की तरह लगा दी जाती हैं। ये रचनाएँ किसी भी तरह से कहीं जुड़ नहीं पातीं (अक्सर तो जिन सम्प्रदायों के नाम पर वे गाई जाती हैं उनके धार्मिक नियमों की कट्टरता में उनके गाने-बजाने पर ही प्रतिबंध होता है!) परन्तु यदि इस तरह की रचनाओं को शामिल किए जाने

की कोई 'बाध्यता' हो (जो कि संभवतः नहीं है) तो उनकी प्रस्तुति में विशेष ध्यान देने की ज़रूरत है! 'सर्वधर्म समभाव' केवल एक राजनैतिक नारा नहीं है। उसकी अनुभूति को हर प्रकार की रचना के मूल में घुसकर पकड़ना होगा ताकि मानव धर्म की सही पहचान बने। भारतीय-जीवन के जो सही सांस्कृतिक मूल्य निर्मित हुए हैं—वह सर्व-प्राणी हेतु करुणा, दया, ममता, प्रेम और सद्भाव का संदेश उन रचनाओं में से निकाल कर रेखांकित करना श्रेयस्कर होगा—केवल कुछ पवित्र पुस्तकों के पाठ या इस देश की धरती से कटे हुए अन्य स्थान विशेष की जै-जैकार करने से—इस तरह के कार्यक्रम की मूल अवधारणा को ही नष्ट करना है। पर यह सब नकली-सोच के ज़रिए तात्कालिक ख़ानापूरी के नाम पर अलग-अलग रेडियो केंद्रों में होता चला आया है—होता जा रहा है! इस तरह की 'धर्मनिरपेक्षता के पैबंद' किसी भी लोकोत्तर अनुभव को सम्पन्न नहीं बना पाते। वह केवल एक 'सरकारी दृष्टि' का साइन बोर्ड या तख्ती लटकाए चलते हैं।

भक्तिपरक रचनाओं से उद्भूत अनुभव की प्रामाणिकता श्रोताओं तक दो रास्तों से पहुँचती है: एक तो स्वयं रचना का टकसाली होना और उसके शब्दों का शुद्ध और संगत होना। दूसरे उस रचना की संगीत या लयात्मक प्रस्तुति करने वाले गायक की निजी क्षमता। जो प्रतिष्ठित हैं, वे दुर्भाग्य से शब्दों की शुद्धता के प्रति उदासीन रहते हैं और प्रायः अशुद्ध गाते हुए उसी ढंग से अपनी 'रिकार्डिंग' करा लेते हैं। फिर वही अशुद्ध रचना उसी कलाकार के नाम पर हर आकाशवाणी केंद्र से निरंतर बजती रहती है। इन अशुद्ध पदों की एक अच्छी खासी सूची बन सकती है। इन गायकों को उनके ऊँचे नामों के बावजूद—इस प्रकार के कार्य-क्रमों से बिल्कुल हटा देना चाहिए। कुछ ऐसे भी गायक कलाकार हैं जो शीर्ष संत कवियों की रचनाओं को भ्रष्ट करके उसमें अपनी तुकबंदियों का चिप्पड़ लगा-लगा कर गाते हैं। आकाशवाणी उन 'संगीत सम्राटों' को भी स्वीकृति दिए बैठी है। इस लम्बी बहस को, इस संक्षिप्त लेख में उठाना अभीष्ट नहीं होगा कि शब्दों का किसी ऊर्जा से मंडित हुए बिना, उसकी प्रेषणीयता कैसे संदिग्ध बनी रह जाती है। यह ऊर्जा उस रचना-कार के परिपक्व अनुभव की आँच से उत्पन्न होती है जो स्वरशिल्प या साहित्य सौष्ठव को लाँघती हुई श्रोता के मानस तक तत्काल पहुँचती है जैसे—'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरा न कोई'। आकाशवाणी के माध्यम

से आने वाले स्वरों में—जहाँ गायक की बहुआयामी नाटकीय मुद्राएँ श्रोता के समक्ष लुप्त रहती हैं—गायन के पीछे-पीछे चलने वाला पाखण्ड बड़े समर्थ ढंग से उजागर होता है। इस क्रमशः खुलते हुए पाखण्ड का अनुभव क्रमशः ही होता है।

कोई दस-पंद्रह साल पहले इस कार्यक्रम का 'महत्व' (?) और लोकप्रियता आँक कर इसे नित नवीन करने का प्रयास हर आकाशवाणी केंद्र पर चलाया गया था। इसके लिए अलग इकाइयाँ बनी थीं जो विशिष्ट गायकों से चुनिंदा पदों को तैयार करवा कर गवाती थीं और उनकी रिकार्डिंग अन्य केंद्रों पर बाँटी जाती थी। वह क्रम अब कहीं नहीं है। जो सामान्य ढंग के सुगम संगीत के कार्यक्रम होते हैं उनमें से भी अच्छे ढंग के गाए हुए पदों का चयन नहीं किया जाता। भक्तिमूलक रचनाएँ अब केवल राष्ट्रीय शोक या मुर्दनी का पर्याय बन गई हैं। उन्हें सुनकर विरक्ति होती है—भक्ति संगीत शायद मृत्यु के आघात से मन हटाने के लिए, संसार की असारता बताने के लिए ही रह गया है—वह जीवन को अधिक रसमय, रागमय, आनंदमय करने के लिए सरकारी दृष्टि में अब समर्थ नहीं रह गया। ये सारे कार्यक्रम अधकचरे ढंग से तैयार होते हैं। दुखद स्थिति यह है कि आकाशवाणी को अपने विभिन्न कार्यक्रमों की क्षमता और सार्थकता की पहचान अब तक नहीं बनी है। वह दूरदर्शन के सामने बौने या अपंग हो जाने की कुंठा से ही ग्रस्त है। स्वर या शब्दवेधी वाण चलाने वालों को रूप की आवश्यकता नहीं होती!

□□

महिला कार्यक्रमों की सार्थकता

जहाँ-जहाँ पुराने रेडियो केन्द्र हैं वहाँ महिलाओं के लिए एक अलग प्रोग्राम किया जाता है। इसे भी उदाहरणार्थ बच्चों या ग्रामीणों के लिए विशेष कार्यक्रम न कहकर पहले अल्पसंख्यक कार्यक्रम के नाम से अभिहित किया जाता था। पुराने ढर्रे के इन कार्यक्रमों में कुछ स्त्रियोचित मनोभूमि के कार्यक्रम किए जाते थे जैसे कुछ सिलाई, कढ़ाई, बुनाई कुछ रसोई व्यंजन, कुछ सामान्य जानकारी और कुछ सामान्य उपयोगी कार्यक्रम जैसे जच्चा-बच्चा की देख-रेख आदि के सुझाव शामिल होते थे। इनके लिए कोई विशेषज्ञ नहीं होते थे। रेडियो में "सिविलसर्वेन्ट" की तरह पहले एक पदाधिकारी जीव होता था जिसे "प्रोग्राम असिस्टेन्ट" कहते थे। वह किसी भी चीज़ का विशेषज्ञ न होकर सभी विषयों का विशेषज्ञ माना जाता था। वह केन्द्र निदेशक की आज्ञा से चाहे संगीत के प्रोग्राम करे—चाहे बच्चों के प्रोग्राम करे, चाहे महिलाओं के लिए प्रोग्राम करे—वह सर्वसमर्थ माना जाता था! वही प्रोग्राम-असिस्टेन्ट यह महिलाओं का कार्यक्रम भी करता था। ज़ाहिर है कि महिलाओं को समाज में एक अनपढ़, अर्धविकसित और रूढ़िग्रस्त जीव मानकर उसके संस्कारों को सुधारने के लिए ही रेडियो महिला-प्रोग्राम करता था।

इन कार्यक्रमों में न तो कोई विशिष्ट पूर्व रूपरेखा बनती थी और न उन्हें करने के लिए उस क्षेत्र की विशेषज्ञ महिलाओं की खोज ही होती थी। इस कार्यक्रम में जो दृष्टि उभर कर आती उसमें महिलाओं को चिरन्तन रूप से दूसरे दर्जे का नागरिक मान लिया गया था। इस बात

की पुष्टि के लिए उसी तरह के कार्यक्रम संयोजित किए जाते। पर्व त्योहारों पर ख़ास तरह के प्रोग्राम महिलाओं के लिए भी आयोजित होते। ऐसी महिलाओं के जीवन चरित्र भी सुनाये जाते जिन्होंने देश या समाज के लिए भी काम किए थे। कुल मिलाकर उस प्रोग्राम में पुरुष-दृष्टि ही प्रबल थी। यही ग़नीमत थी कि इन कार्यक्रमों को रेडियो के माइक्रोफोन पर महिलाएँ ही प्रस्तुत करती थीं।

कालान्तर में इसका स्वरूप बदला। रेडियो में महिलाओं के प्रोग्राम को विशिष्ट दर्जा दिया गया। महाराष्ट्र की महिला साहित्यकार सौ० कुसुमावती देशपांडे ने महिलाओं की कार्यक्रम की प्रमुख प्रोड्यूसर होकर इस कार्यक्रम की रूप-सज्जा सँवारने में विशिष्ट योगदान दिया। हर केन्द्र पर महिलाओं के इस विशिष्ट कार्यक्रम को करने के लिए प्रतिभा सम्पन्न महिलाओं की नियुक्ति प्रोड्यूसरों के रूप में की गयी। देश में जिस तरह महिलाओं के आन्दोलनों का पुनर्जागरण हो रहा था उसकी प्रतिच्छवि इन प्रोग्रामों में भी दिखाई देने लगी।

मूलतः ये कार्यक्रम भी शैक्षिक, मनोरंजक और ज्ञान संवर्धक ही थे परन्तु उनका स्वरूप बदलने लगा। जो शैक्षिक कार्यक्रम थे उनके स्तर में वृद्धि हुई, जानकारियों का क्षेत्र विस्तृत हो गया और मनोरंजन की दृष्टि कई पक्षों को समेटने लगी। लेकिन सब मिला-जुलाकर ये कार्यक्रम समाज के मध्यम श्रेणी के परिवारों के लिए ही सीमित थे। यह माना जाता था कि रेडियो सुनने की सुविधा केवल उन्हीं के पास है और उसमें भी वे "गृहकारज नाना जंजाला" से मुक्त होकर केवल दोपहर में ही अपना कार्यक्रम सुन सकती हैं। इस समय उनके घर वाले काम पर जा चुकते हैं और बच्चे स्कूल में होते हैं। प्रसारण समय की यह अवधारणा तो अब भी बनी हुई है।

"विमेन लिब"—या महिला स्वातंत्र्य का जैसे-जैसे ज़ोर बढ़ा महिलाओं के कार्यक्रमों में कुछ और तब्दीलियाँ हुईं। अक्सर अपने को पुरुषों के समकक्ष या कहीं-कहीं उससे ऊपर बताने की महत्वाकांक्षा में कुछ ऐसे प्रोग्राम भी किए गये, और किए भी जा रहे हैं, जो घरेलू सौहार्द्र के वातावरण को कटु भी बना देते हैं। सामाजिक सुधारों के नाम पर जहाँ अशिक्षा, रूढ़ियाँ, दहेज या बाल विवाह आदि के विरोधी कार्यक्रम आगे-पीछे परिवर्तन की कामना से किए जाते हैं, वहीं स्त्रियों के बराबरी के अधिकार या उनके कानूनी दाँव-पेंच भी जानकारी के

नाम पर समझाये जाते हैं। नारी को ये कार्यक्रम अपने ढंग से "पूर्ण" करने की कोशिश करते हैं। उनके जीवन को "अबला जीवन" से उठाकर 'सबला' करने की कोशिश हो रही है।

महिलाओं के अनेक वर्गों की जरूरतों को पूरा करने के लिए कई दूसरे तरह के कार्यक्रम भी चलाए गये। गाँव की महिलाओं के लिए कुछ विशेष ढंग से कार्यक्रम शुरू किए गये। इनमें प्रसारण दृष्टि और उनका स्तर और भी नीचा रहा। इसी तरह कई केन्द्रों से कामगार महिला जो रोज़ी-रोज़गार में लगी हुई हैं और केवल घर गृहस्थी में ही नहीं फँसी हैं उनकी समस्याओं को केन्द्रित करते हुए भी कुछ कार्यक्रम शुरू किए गये। कुल मिला-जुलाकर इन तमाम महिला कार्यक्रमों का मूल ढाँचा एक जैसा ही बना रहा। सामग्री यही रही किसी में कुछ कम किसी में कुछ ज़्यादा।

महिला प्रोग्राम करने वालों की सोच की यह विडम्बना है कि अभी तक वे यह नहीं जान पाए कि देश को किस तरह के समाज की जरूरत है और उसमें भी विशेष रूप से महिलाओं का क्या योगदान हो सकता है। यदि तमाम समस्याओं की मूल में झाँककर देखा जाय तो कहीं न कहीं यह तथ्य सामने आयेगा कि मूलतः पारिवारिक विघटन और जीवन में आदर्शों के पतन के पीछे उन महिलाओं का निष्क्रिय योगदान है जिन्होंने समय रहते अपने बच्चों को संस्कार नहीं दिया। उन्होंने न तो अपने मातृत्व के दायित्व को निभाया और न परिवार की दूसरी इकाइयों को अपनी जिम्मेदारियों के प्रति सचेत किया। हुआ यह कि साक्षर होते ही– और कभी-कभी बिना पढ़े-लिखे उनमें ऐसी महत्वाकांक्षाओं को रोप दिया गया जिनको साकार करने के लिए वे अपने समग्र व्यक्तित्व को मटियामेट कर बैठीं। उनके भीतर जो सृजन शक्ति थी उसे पैनी धार नहीं मिली वरन् वह तथाकथित ज्ञान और शिक्षा के पाखण्डी स्वरूप में फँसकर मन्द और फलतः कुन्द होती गयी। अपने बच्चों को अच्छा बनाने के बजाय वे स्वयं दोयम दर्जे की सामाजिक कड़ी होने में अपनी श्रेष्ठता समझने लगीं। महिलाओं के प्रोग्राम का मूल स्वर बना— शिकायत। सबसे शिकायत—अपने समाज से, अपने परिवेश से, अपने परिवार से, अपनी संतान से और अपने निजी कार्य व्यापार से भी। ऐसे कार्यक्रम नगण्य होते हैं जो स्त्री को उसकी सार्थकता का बोध करायें। वह केवल होड़ में दौड़ती दिखाई पड़ती है।

महिलाओं के प्रोग्राम जहाँ इस 'गान्धारी' दृष्टि के शिकार हैं वहीं इन विशिष्ट कार्यक्रमों को प्रस्तुत करने वालों की नगण्य शिक्षा-दीक्षा भी कार्यक्रमों के स्तर को अनाकर्षक बनाती है। जो महिलाएँ इन कार्यक्रमों को सम्पादित करती हैं वे उच्च वर्गीय अभिजात्य से इतनी ग्रस्त होती हैं कि वे सहज श्रोता की मनोभूमि से कभी तादात्म्य नहीं बना पातीं। उनकी भाषा नकली और समस्याओं पर पकड़ अधकचरी होती है। इसीलिए वे अपने प्रोग्रामों में विश्वसनीयता नहीं पैदा कर पातीं। जो कार्यक्रम मात्र उपदेशात्मक होते हैं वे प्रायः जड़ और निर्जीव होते हैं। उनको जीवन्त बनाने की कला महिला प्रस्तुतकर्तियों को नहीं आती। वे अपने कार्यक्रमों का न तो सही ढंग से पूर्वालोचन करती हैं और न पूर्वाभ्यास। इसीलिए वे जब सूत्रधार का काम करती हैं तो भी सिर्फ एक नक़लीपन ही हाथ आता है। मनोरंजन के नाम पर भी ऐसा बहुधा कम होता है जो प्राचीन तीज-त्योहारों को देश की मिट्टी और संस्कारों से सार्थक रूप से जोड़ सके। अब इन प्रोग्रामों में भी प्रचार के आँकड़े गिनाने का चलन हो गया है।

समय आयेगा जब महिलाओं के प्रोग्राम को उसकी निजी गरिमा के साथ प्रस्तुत किया जाएगा। वह पुरुष-सापेक्ष कार्यक्रम नहीं होगा वह अपने में सम्पूर्ण होगा। जिस समाज की कल्पना में नारी की पूजा में देवताओं के वास करने की शक्ति घोषित की गयी हो उसकी निजी सार्थकता रेखांकित करने की आवश्यकता है। वह राष्ट्र को कालान्तर में निर्मित करने वाली शक्ति है। उसके द्वारा जो कुछ भी आज निर्मित किया जाएगा उसके लिए प्रसारण से जैसी मनोभूमि बनायी जाएगी वह क़तई दूसरे दर्जे की हैसियत को स्वीकार नहीं करेगी। यह भी तभी हो सकेगा जब उसे उसके पद पर प्रतिष्ठित करने का पुनर्विचार होगा। महिलाओं के लिए प्रोग्राम करने वालों के सामने यह स्पष्ट होना चाहिए कि वे कैसी माँ, कैसी बहन, कैसी पत्नी चाहते हैं—या वे सिर्फ स्टोनो टाइपिस्ट, प्राइवेट सेक्रेटरी, कालगर्ल और कटी हुई आधुनिका चाहते हैं—उसकी निर्मित के लिए लम्बी तैयारी के साथ प्रोग्राम करने होंगे। नारी-जागरण अपने में बड़ी भारी उपलब्धि है पर क्या इससे हम समाज का नव निर्माण कर सकेंगे अथवा केवल संघर्ष और विघटन?

□□

बच्चों के प्रोग्राम : कस्मै देवाय ?

पत्थर में गढ़ी देव प्रतिमा हो तो उस पर अक्षत जल चढ़ाकर उसकी पूजा की जा सकती है या उसके खंडित हो जाने पर उसको विसर्जित भी किया जा सकता है। किन्तु जहाँ अनगढ़ पत्थर से तराशकर नयी मूर्ति गढ़नी हो वहाँ यदि मूर्ति को आकार देने वाले शिल्पी के मन में उस अनागत मूर्ति की कोई कल्पना ही न हो, वहाँ यह सम्पूर्ण प्रक्रिया शून्य में एक कसरत जैसी दिखाई देने लगती है। आकाशवाणी से बच्चों का जो प्रोग्राम किया जाता है वह लगभग ऐसी ही कसरत है। आकाशवाणी के सभी केन्द्र बच्चों के भिन्न-भिन्न वयानुसार यह कार्यक्रम प्रसारित करते हैं। किन्तु यह दुर्भाग्य ही है कि इन प्रोग्रामों के कर्णधार यह नहीं समझ पाते कि वे भारत जैसे देश के लिए किस तरह के बच्चे तैयार करना चाहते हैं ? वे यह भी नहीं जानते कि ऐसे तैयार हुए बच्चों की किस तरह की मानसिकता और कैसी पृष्ठभूमि की तैयारी की माँग में रेडियो-प्रोग्राम करते हैं।

सम्प्रति बच्चों का कार्यक्रम आकाशवाणी के केन्द्रों से प्रसारित तमाम प्रोग्रामों के बीच काफ़ी लोकप्रिय है। अक्सर यह कार्यक्रम बड़ों के द्वारा बच्चों के लिए प्रसारित किए जाते हैं। बच्चों के लिए बच्चों के ही द्वारा कार्यक्रम सम्पन्न हों ऐसी स्थिति अभी तक नहीं आ सकी है—यद्यपि इन कार्यक्रमों में बच्चे शामिल होते हैं। इससे बच्चों में आपसी मेल मिलाप का एक वातावरण भी किसी हद तक बनता है। पहले इन कार्यक्रमों पर आकाशवाणी अतिरिक्त ध्यान नहीं देता था किन्तु प्रथम प्रधानमंत्री

जवाहर लाल नेहरू के जन्म दिवस को बाल दिवस बनाकर और नेहरू को 'चाचा नेहरू' के पद पर बिठाकर प्रकारान्तर से सरकार ने बच्चों के कार्यक्रमों को प्रतिष्ठा दे दी। चौदह नवम्बर (नेहरू का जन्म दिन) का बाल दिवस अब सभी केन्द्रों में बच्चों के कार्यक्रमों का एक बड़ा उत्सव मानकर ज़ोर-शोर की तैयारी के साथ सम्पन्न होता है। स्पष्ट ही इस प्रक्रिया में बच्चों के भावी निर्माण से आकाशवाणी के प्रोग्रामों का ज्यादा लेना-देना न होकर शासक की प्रशस्ति गायन का ही उपक्रम अप्रत्यक्षतः दिखाई पड़ता है। अस्तु।

बच्चों के कार्यक्रमों की जो रूपरेखा बनती है उसमें अधिकतर शिक्षा-प्रद और उपदेशात्मक कार्यक्रमों की भरमार रहती है। इस बहाने सरकारी आँकड़ों की पूर्ति भी होती चलती है। कहीं-कहीं इनमें अतिरिक्त जानकारी के लिए कुछ वैज्ञानिक ढंग की बातचीत भी शामिल रहती है। नाटक और कहानियाँ अनुपाततः कम होती हैं। बच्चों की मनोभूमि कहानियों से अधिक निर्मित होती है। नाटक कुछ बड़े बच्चों के लिए अधिक आकर्षक होते हैं। नाटक के कथानक की जटिलता, पात्रों की बुनावट और उनकी आवाज़ों से उनको पहचानना और फिर किसी निष्कर्ष पर पहुँचना यह कुछ अतिरिक्त दिमाग़ी-कसरत की माँग करता है, जो सामान्यतः बच्चों में नहीं होती। उन्हें उसके निरन्तर अभ्यास से नाटक को ग्रहण करने की शक्ति मिलती है। यह काम कहानियों से आसानी से हो जाता है। कहानियों को कितने ढंग से वर्णित किया जा सकता है, कहानियों के विवरण से कैसे नाटकीय तत्व पैदा किए जा सकते हैं, कहानियों के निष्कर्ष से बच्चों के भाव बोध को कैसे क्रमशः प्रभावित किया जा सकता है—यह लक्ष्य बच्चों के लिए विशेष ढंग की कहानियाँ प्रसारित करके प्राप्त किया जा सकता है। बच्चों के लिए रेडियो-कहानी बहुत ही कम लिखी गयी हैं।

आचरण के जो प्रतिमान बच्चों से अपेक्षित हैं वे भी उपदेशात्मक बातचीत से नहीं प्राप्त किए जा सकते। लम्बी अवधि की वार्ताओं को बच्चों का धैर्य संभाल नहीं पाता। उनके सुनने की और ग्रहण करने की धैर्य अवधि बहुत ही संक्षिप्त होती है। उस संक्षिप्त अवधि का कितना सही, सार्थक और प्रभावशाली उपयोग किसी भी प्रसारण में किया जा सकता है यही उस कार्यक्रम की कसौटी है। रेडियो के ऐसे कान्ट्रैक्ट जो केवल वार्ताकार से आठ या दस मिनट की अवधि की पूर्ति की पूरी फीस मिलने

या न मिलने की शर्तें लगाते हैं उन्हें बच्चों के कार्यक्रमों की दृष्टि में रखते हुए रद्द कर दिये जाने चाहिए। इसके विपरीत छोटी अवधि के प्रभावशाली कार्यक्रम विशेषज्ञों से तैयार करवाकर उन्हें बढ़ी हुई आकर्षक फ़ीस देनी चाहिए। तभी हम इस कार्यक्रम को एक विशेष दर्जा देंगे और इसे लकीर के फकीर होने से बचा सकेंगे। कहानियाँ या नाटक जैसी बच्चों की विधा के लिए ऐसी फ़ीस का भुगतान किया जाना चाहिए जो देश के किसी भी मीडिया से दुष्प्राप्य हो। ऐसे लिखने वालों की श्रेष्ठ पंक्ति हर केन्द्र पर तैयार हो जानी चाहिए थी। ये लिखने वाले बाल मनोविज्ञान को समझते हुए बच्चों के आकांक्षित आचरण को निर्मित करने में सहायक हो सकते थे।

बच्चों के गीत लिखने वाले और उन्हें प्रसारित करने वालों का यह सिर्फ़ बाएँ हाथ का खेल है। कोई भी ऐसा बालगीत अब तक तैयार न हो सका जो सुनने वाले बच्चों की ज़बान पर चढ़कर गली-गली गूँजता सुनायी पड़े। सड़े हुए सिनेमाई गीत गली के बच्चे अब भी दुहराते हैं लेकिन रेडियो के गीत वे कभी नहीं गाते। दूसरे प्रदेशों के 'तथाकथित-राष्ट्रीय' गीत उनको सामूहिक रूप से सिखाए जाते हैं उनके नोटेशन लिखवाये जाते हैं और उन्हें पाठ की तरह दुहरवाया जाता है किन्तु वे किसी भी तरह बच्चों के मनोभूमि से अपना ताल-मेल नहीं बिठा पाते। वे गीत केवल उसी प्रसारण तक सीमित रहते हैं। उसके बच्चे उन गीतों के पंखों पर बैठकर नहीं उड़ पाते।

जिस राष्ट्रीय गौरव की कल्पना से बच्चों को प्रेरित करके ये गाने और उनके द्वारा परिचालित आचरण की अपेक्षा की जाती है उस राष्ट्र की कोई सही तस्वीर बच्चों के मन पर नहीं उकेरी जाती। अकसर राष्ट्र के माने वे सिर्फ देश की सरकार को समझते हैं। सरकार के माने वह जो सत्ता में है! इस तरह प्रकारान्तर से बच्चों के मन में यह बात घुमा-फिराकर बिठाई जाती है कि जो कुछ भी वे सरकार के विरोध में कहेंगे या करेंगे वह सब उनका आचरण 'राष्ट्र-विरोधी' होगा। राष्ट्र-विरोध, देश के साथ गद्दारी, राष्ट्रद्रोह और सत्ता के द्वारा किए हुए ज़ोर ज़ुल्म और अन्याय के खिलाफ खड़े होने में तमीज़ करना, उनमें भेद करना बच्चों को कभी नहीं बताया जाता। इस प्रोग्राम में इस तरह के विचार बीज डालकर देश के बच्चों की सही मानसिकता पैदा करने का जोखिम भी सरकार पोषित आल इण्डिया रेडियो नहीं उठा सकता।

उसके कर्मचारी मुअत्तलकर दिए जाएँगे। उनकी नौकरी चली जाएगी। इसलिए बच्चे अगर राष्ट्र के मायने सिर्फ सरकार समझते हैं और राष्ट्र के प्रति वफादारी को अन्ततः सरकारी-नौकर होने में ही अपने जीवन की इतिश्री समझ लेते हैं तो बच्चों का प्रोग्राम अपना 'वांछित कार्यक्रम पूरा' कर देता है।

यदि यही रवैया रहा—जो कि आकाशवाणी के किसी तरह के सरकारी नियंत्रण में रहने तक यही बना रहेगा—तो बच्चों के प्रोग्राम के मूल ढाँचे में कोई बदलाव आना मुश्किल है। वह केवल पिष्ट-पेषण ही रहेगा। एक बड़ी जिम्मेदारी—जो भावी राष्ट्र के निर्माण से जोड़ती है जो उनकी मानसिकता को बनाती है, जो आगे चलकर देश के कर्णधार होंगे—उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को बौना और कुन्द ही बनाता रहेगा। जैसे-जैसे वे बच्चे बड़े होंगे हम उन्हें सहज ही उन खूंखार भेड़ियों के सामने फेंक देंगे जो समाज को काले धन्धे और गर्हित राजनीति की लगाम से चलाते हैं। कोई भी बच्चा बड़ा होकर यह गर्व के साथ नहीं कह सकेगा कि मैंने अपने जीवन की मूल शिक्षा आकाशवाणी के बच्चों के कार्यक्रम से पायी है।

□□

युववाणी--शग़ल या संकल्प ?

रेडियो के प्रसारण तंत्र के विकास का एक पैमाना यह भी रहा है कि जितने अधिक खाँचे बनाकर प्रोग्राम को अलग-अलग श्रोता वर्ग के लिए निश्चित कर दिया जाय, उतना ही यह प्रसारण अधिक दूरगामी लक्ष्यों को बेधता है। संभवतः इसी उद्देश्य को सामने रखकर आकाशवाणी ने एक अन्य श्रोतावर्ग को सम्बोधित करने के लिए नये कार्यक्रम की शुरुआत की—'युववाणी' नाम से। यह प्रोग्राम जैसा कि शीर्षक से ही जाहिर है युवा श्रोताओं को प्रेरित करने के लिए शुरु हुआ। यह अपेक्षाकृत अन्य कार्यक्रमों के मुक़ाबिले में नयी शुरुआत है और अभी अपने प्रयोगों की दिशा में ही सक्रिय है।

इसकी विशिष्ट रूपरेखा ऐसी सुनिश्चित की गयी जिसमें युवा पीढ़ी के ज्ञान वर्धन, मनोरंजन और दिशा निर्देश के सुझाव यथासमय दिए जायँ। अक्सर ये कार्यक्रम उनके लिए दूसरों द्वारा ही किए जाते हैं। परन्तु कभी-कभी स्वयं युवा वर्ग अपने ही समवयस्क श्रोताओं के लिए यह कार्यक्रम प्रस्तुत करते हैं। इस कार्यक्रम में युवा वर्ग की रचनाशीलता और उनके सोच-विचार को सामने लाने का प्रयत्न निरंतर चलता रहता है। कई दृष्टियों से यह कार्यक्रम युवा पीढ़ी के लिए महत्वपूर्ण है। यदि सक्रिय ढंग से युवा वर्ग इस कार्यक्रम से अपना रिश्ता बनाएँ तो वे भावी जिम्मेदार नागरिक होने का दायित्व भी शायद उठा सकें।

युवकों को अपने ही स्तर पर अपने वर्ग की सृजनशीलता और

आपसी समझ को विकसित करने के लिए विश्वविद्यालयों से लेकर सामान्य स्कूलों तक के परिसर में अनेक कार्यक्रम आयोजित किए जाते हैं। उनके गायन, वादन, काव्य रचना, वाद-विवाद प्रतियोगिताएँ और देश की सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक गतिविधियों के बारे में सक्रिय रूप से सोचने के लिए ये आयोजन सम्पन्न होते हैं। ये अन्तर्राज्य और अन्तरविश्वविद्यालय स्तरों पर भी आयोजित होते हैं। विश्व में जितनी हलचल—राजनैतिक, सामाजिक क्रांतियाँ हो रही हैं उनमें अक्सर युवा वर्ग और छात्र समुदाय की प्रमुख भूमिका देखी जा सकती है। जब आकाशवाणी युवा वर्ग के लिए इन समस्याओं को लेकर सामने आती है तो वह अपने प्रसारण में कुतूहल से ऊपर के स्तर तक नहीं उठ पाती।

युवा वर्ग की महत्वकांक्षाएँ असीम हैं—और आकाशवाणी के चौखटे बड़े सँकरे हैं। वह उनकी महत्वकांक्षाओं के अनुकूल छूट नहीं दे सकता। उनके विचारों को ऐसी सँकरी गलियों से निकालना चाहता है जिन पर पहले से ही ठप्पे लगे होते हैं! इस प्रोग्राम में अधिकांशतः युवा वर्ग के सोच के नाम पर जो प्रोग्राम सामने आते हैं उनमें कमरों में बैठे बुद्धिजीवियों की अकर्मण्यता की छाप अधिक दिखती है। ये प्रसारण कर्म की ओर उन्मुख नहीं करते। विषय भी ऐसे चुने जाते हैं जिनमें कर्म की सीमित-क्षमता हो। जब तक शब्द, आचरण समर्थित नहीं बनते तब तक वे किसी भी स्तर पर प्रेरित करने में नाकाम रहते हैं। युववाणी का कार्यक्रम शब्दों को कर्म में बदलने की चुनौती है—ठीक उसी स्तर पर जैसे गाँव का श्रोता खेती-बारी की बातें सुनकर अपने खेतो में उनका प्रयोग करता है और उसके लाभ हानि का जोखिम उठाता है। युववाणी के कार्यक्रम—कम से कम सोच-विचार के प्रोग्राम—जो युवा वर्ग के आचरण की पहचान बना सकें—उनका सर्वथा अभाव है। यह जोखिम सरकारी नीतियों से पोषित आकाशवाणी जैसा संस्थान उठा नहीं सकता।

इसीलिए बहुधा युववाणी कार्यक्रम फिल्मी मन-पसंद संगीत तक अपने को सीमित रखता है— नहीं तो काव्यपाठ नहीं तो युवा वर्ग की कवि गोष्ठी या ऐसे लोगों से भेंट वार्ताएँ जो किसी क्षेत्र में कुछ उपलब्धियाँ हासिल कर सके हों, बस यहीं तक उसकी परिक्रमा है। ध्यान से यदि इस प्रोग्राम को सुना जाय तो इसमें भी लीक पीटने का जड़

अभ्यास ही दिखाई पड़ेगा। रेडियो केन्द्रों पर इस प्रोग्राम की कोई अहमियत नहीं मानी जाती। महत्वाकांक्षी और प्रचार-खोजी युवक-युवतियाँ ऐसे प्रोग्राम करने वालों के आस-पास मँडराते रहते हैं। वह सब एक तरह की शौक़िया-प्रक्रिया है। उसके भीतर किसी सुनिश्चित दृष्टि या ठोस संकल्प के दर्शन नहीं होते। इसे सुनकर इस बात का भरोसा नहीं होता कि यह युवा वर्ग देश को, समाज को, उसकी राजनीति को बदलने के लिए कृत संकल्प है। ऐसा भी नहीं लगता कि वे भारतीय जीवन के मूल्यों की रक्षा करने वाले और उन्हें पुर्नप्रतिष्ठत करने वाले युवा वर्ग के प्रमुख प्रवक्ता हैं। युववाणी कार्यक्रम के अर्थ केवल एक मौजमस्ती का गैर-ज़िम्मेदाराना कार्यक्रम है जिसका लक्ष्य सिर्फ काग़ज़ी है।

देश की इस प्रबलतम शक्ति को यदि संरचनात्मक कार्यों के लिए प्रेरित करना है, बेरोजगारी से मुक्ति दिलाना है, परोपजीवी वृत्ति से छुटकारा दिलाना है और उन्हें एक नये समाज के निर्माता के रूप में प्रतिष्ठित करना है तो युववाणी कार्यक्रम में ऐसे नैतिक संकल्पशील व्यक्तियों को जुटाना होगा जो इस कार्यक्रम को हेय न समझें और इसे देश का एक महत्वपूर्ण अभियान मानें। इसकी रूपरेखा तदनुसार बनायी जानी चाहिए। मनोरंजन का स्तर सर्जनात्मक हो, उन्हें भारतीय धर्म दर्शन, पौराणिक उपाख्यान, सांस्कृतिक पुनर्जागरण के वे सारे पहलू बताने चाहिए जो उन्हें जीवन के संघर्ष में बेहतर हथियारों से लैस कर सकें। फिलहाल वे जिन्दगी की लड़ाई में इन कार्यक्रमों में शामिल होते हुए भी अपने को अधकचरा और कमज़ोर महसूस करते हैं। इसे शग़ल की स्थिति से उठाकर संकल्प की स्थिति में बदलने की प्रक्रिया जितनी जल्दी से जल्दी शुरु होगी, युववाणी का कार्यक्रम उतना ही सार्थक होगा।

□□

परिवार नियोजन--विरोध की मानसिकता पर जीत का उपक्रम

बेतहाशा बढ़ती हुई आबादी वाले इस देश में परिवार को सीमित रखना एक भयावह स्थिति का सामना करने की चुनौती है। संतान प्राप्ति के ऐहिक और पारलौकिक दोनों ही लाभों को आर्थिक विपन्नता और कमाई के साधनों की सीमित क्षमता देखते हुए इस देश में परिवार नियोजन को आम आदमी के ग्रहणशील क्षेत्र में रोप देना अत्यन्त दुष्कर सिद्ध हुआ है। इसमें विरोध की एक मानसिकता से पहले ही सामना करना पड़ता है। जब तक इस बात की घनीभूत चेतना आई और उसे लागू करने की कोशिश होने लगी, भारतीय मानस में कुटुम्ब के मोह ने तमाम प्रयत्नों पर शंका व्यक्त की। स्व० संजय गाँधी के नेतृत्व में इन्दिरा गाँधी के प्रधान मंत्रित्व काल में परिवार नियोजन को जिस सख्ती से लागू करके इस जनकल्याणोन्मुखी योजना को आँकड़े बटोरने वाली योजना में परिवर्तित कर दिया गया उसके परिणाम जग-जाहिर हुए। सरकार के खिलाफ़ इस बात को लेकर वोट पड़ा। पूरा आन्दोलन समाज में बदलाव लाने की जगह एक राजनीतिक हथकण्डा हो कर रह गया।

रेडियो में इस आन्दोलन की अहमियत समझकर पिछले पन्द्रह-बीस वर्षों से अलग-अलग तरीकों से परिवार को सीमित रखने के लिए बल दिया जाता रहा। बाद में इस कार्यक्रम की महत्ता को समझते हुए सभी महत्वपूर्ण रेडियो केन्द्रों पर एक परिवार नियोजन यूनिट की स्थापना की गयी और उसके लिए अलग से बजट में प्रावधान भी किया गया। इन यूनिटों के जो आला. अफ़सर हर केन्द्र पर नियुक्त हुए वे ज़्यादातर

राजनीतिक सिफ़ारिशों पर आये हुए "पेंशनभोगी" लोग ही थे। इस दिशा में न तो उनकी कोई ट्रेनिंग हुई थी और न ही उनकी मानसिकता उस प्रकार से विकसित थी। सबसे बड़ी कमी यह थी कि उनमें से अधिकांश प्रसारण तंत्र की विधा से सर्वथा अनभिज्ञ थे। इसलिए जहाँ वे संजीदा होकर काम करना भी चाहते थे वहाँ प्रसारण तंत्र का शिल्प और परिवार नियोजन की बेसिक (प्राथमिक मूलभूत) जानकारियों से अनभिज्ञता उनके आड़े आती रही। इस प्रकार परिवार नियोजन के नाम पर भोंड़े और कुरूप चिप्पक लगाने का कार्यक्रम रेडियो के तमाम लोकप्रिय कार्यक्रमों को एक स्तर पर हास्यास्पद बनाने लगा।

परिवार नियोजन के यह कार्यक्रम कुछ नाटकों के ज़रिए, कुछ बात-चीत के ज़रिए और कुछ नसबन्दी कराये हुए या लूपवती महिलाओं से भेंटवार्ताओं के रूप में काफ़ी दिन चलता रहा। जाहिर है कि इस सब कुछ नौसिखिए दिमाग की उपज, नौसिखिया लेखन और नौसिखिया प्रस्तुतीकरण से परिवार नियोजन के इस कल्याणमूलक कार्यक्रम को एक सरकारी प्रचार का शिगूफ़ा बनाकर छोड़ दिया गया। यहाँ भी सिर्फ खानापूरी पर ही ज़ोर था। जितने अधिक आँकड़े बटोरे जाते और सिद्ध किया जाता कि परिवार नियोजन अभियान सफलतापूर्वक चल रहा है—उतनी ही तेज़ी से इस देश की जनसंख्या विस्फोटक स्थिति तक सुरसा की तरह मुँह फाड़े बढ़ने लगी। रेडियो में जिस शिल्प के अनुगामी होकर संगीत, साहित्य, देश की युवा चेतना सब कुछ अपनी अभिव्यक्ति को श्रोता तक पहुँचाने का सर्वथा नया उपक्रम करते रहे हैं वह परिवार नियोजन के कार्यक्रमों को दुर्भाग्य से कभी सुलभ नहीं हुआ। इसके लिए विशेष दृष्टि भी विकसित नहीं की गयी। कुछ कुछ इसी तरह का दुर्भाग्य ग्रामीण कार्य-क्रमों के लिए भी उपस्थित हुआ। विषय या बात को लपेट कर कहने की कला को त्याग देने से भले ही वह बात खुल्लम-खुल्ला कहकर एक सपाट-बयानी की जाय, परन्तु हुआ यह कि ऐसे शब्द जितनी जल्दी असरदार होते हैं उससे भी कहीं जल्दी वे प्रभावहीन हो जाते हैं।

प्रभावहीनता की इस लहर को तोड़ने के लिए आकाशवाणी में परिवार नियोजन एकांशों ने ऐसे कार्यक्रमों की कल्पना की जो अपनी प्रस्तुति में अश्लीलता और भोंड़ेपन की सीमाओं को भी लाँघने लगी। स्त्रीपुरुष के गोपनीय प्रसंगों को सार्वजनिक बहस का मुद्दा बनाकर महिलाओं के प्रजनन अंगों की छीछालेदर करवाकर-रतिरोग और

मासिक धर्मों की विशद व्याख्याओं के कार्यक्रमों का जैसा नया दौर चला इसमें सारे प्रोग्राम मात्र किसी ज़नाने अस्पस्ताल के दाईगिरी के नुस्खे जैसे बनकर रह गये। इन्हें ब्राडकास्टिंग में "बोल्ड प्रयोग" के नाम से जाना गया। इनमें बीच-बीच में बोलने वाली और टिप्पणियाँ करती हुई महिलाएँ उस रतिरोग, बच्चेदानी के रखरखाव और पीड़ित महिला के एकान्तिक जीवन को केवल सार्वजनिक ही बनाती रहीं।

एक बहस यहाँ उठती है। रेडियो प्रसारण के माध्यम से क्या हम व्यक्ति के जीवन की अंतरंगता को किसी भी स्तर पर सार्वजनिक बनाने का अधिकार प्राप्त कर लेते हैं? यह तो सही है कि किसी भी रोग का निदान रेडियो कोई दवा बताकर नहीं कर सकता। पीड़ित मनुष्य को अन्ततः चिकित्सक की शरण में जाना ही पड़ेगा। वह चाहे रतिरोगी हो, एड्स का रोगी हो या किसी अन्य कायिक रोग से ग्रस्त हो। अश्लीलता तो हमेशा टुकड़ों में करके देखने से पैदा होती है। वह कभी सर्वांग दिगम्बर को देखकर नहीं आती। अपनी इसी दृष्टि से इन कार्यक्रमों को प्रस्तुत करने में इनके अश्लील हो जाने का खतरा बराबर बना रहता है। वह रचना प्रक्रिया जो अपने रहस्य भरे आकर्षण में मानवीय संस्कृति के उत्तरोत्तर विकास के साथ और उदात्त होती गयी उसे इस ढंग से सार्वजनिक रूप से प्रस्तुत करने से हम पशुजगत की योनि क्रियाओं के आस-पास अपनी सम्पूर्ण अनुभूति का क्षरण कर देते हैं। रेडियो को कला माध्यम की इस नाजुक पकड़ का एहसास बना रहता तो कहीं अच्छा होता बजाय इसके कि वह मुँहफट होकर कोकशास्त्र के रहस्यों को दिन-दहाड़े समझाता फिरे!

जरूरी है कि इस तरह के नितान्त संवेदनशील कार्यक्रमों को अकुशल हाथों से फ़ौरन निकाल लिया जाय। इस बात का कोई ठोस प्रमाण सामने नहीं आया है कि परिवार नियोजन के नाम पर होने वाले इन भोंड़े कार्यक्रमों से कहीं भी किसी तरह का सोच का पैमाना बदला है। इनसे विरक्ति के बहुतेरे उदाहरण सामने आये हैं। रेडियो इस तरह के कुछ कार्यक्रमों को करने के लिए किसी ऐसे एकान्त समय का भी निर्धारण कर सकता है जबकि वह सार्वजनिक रूप से घरों में सुनने के समय से अलग हो। उपादेयता के नाम पर भारतीय घरों में जिस ढंग की सामग्री बराबर प्रक्षेपित हो रही है वह उस घर की मूल मानसिकता को तोड़ रही है। परिवार नियोजन के कार्यक्रम उपादेयता के नाम पर मात्र यौन विशृंखलता के प्रतीक बनकर इन टूटते हुए घरों में अपनी घुसपैठ न करें, इस ख़तरे से आगाह रहना ज़रूरी लगता है। □□

प्रोग्राम की उद्घोषणा : आकर्षक या घातक ?

रेडियो के किसी भी प्रोग्राम को अपनी कल्पना के साथ रचकर उसे श्रोता तक पहुँचाने की जो महत्वपूर्ण कड़ी है उसको प्रसारण तंत्र में उद्घोषक के नाम से जाना गया है। यह अत्यन्त महत्वपूर्ण सेतु का काम करता है। यदि यह सेतु सक्षम और सफल है तो वह एक सामान्य कार्यक्रम को भी श्रोता तक सार्थक ढंग से पहुँचा देता है जबकि इसके विपरीत यदि यह कहीं कमज़ोर है तो अच्छे से अच्छे कार्यक्रम से श्रोता की सहज वितृष्णा पैदा कर देता है। स्पष्टत: उस कार्यक्रम का अभीष्ट लक्ष्य प्राप्त ही नहीं होता।

इस कारण यदि उद्घोषक को एक क्षमतावान प्रसारण इकाई बनना है तो उसके लिए ललित कलाओं में उसकी स्वाभाविक गति होना अत्यन्त आवश्यक है। जरूरी नहीं है कि वह इन कलाओं में निष्णात और सिद्ध हो किन्तु उसकी प्राथमिक जानकारी इतनी व्यापक तो हो कि वह संगीत के विभिन्न प्रकारों से, नाटक के तमाम रूपों से, सामाजिक, राजनैतिक पृष्ठभूमियों से और साहित्य के मूल ढाँचे और उसकी आधुनिक गति-विधियों से किसी न किसी स्तर पर परिचित हो। इस प्राथमिक जानकारी के आधार पर ही वह अपनी उद्घोषणा की कला में प्रामाणिकता पैदा कर सकता है।

इस प्रामाणिकता को कई तरह से अर्जित किया जा सकता है। सबसे पहली चीज है आवाज़ का परिमार्जन और उसे सही अंदाज़ में प्रक्षेपित करने की कला। आवाज़ प्राय: प्रकृति प्रदत्त होती है। यह आवाज़ यदि

बहुत मोटी, अनाकर्षक, चित्त में उद्वेलन पैदा करने वाली और इतनी दुर्बल हो कि अश्रवणीय हो जाय—शब्द ही स्वर के बीच में खो जाय और आँख, मस्तिष्क और कंठ का कोई समन्वय पैदा न कर सके तो श्रोता उसे सुनने से इन्कार कर देता है। इसके बरक्स ऐसी आवाजें भी सामने आती हैं जो अपनी गोलाइयों में सहज आकर्षण पैदा करती हैं और श्रोता के निकट स्वरों के उतार-चढ़ाव से अपनी विश्वसनीयता सम्प्रेषित करती हैं। जहाँ ये प्रकृति प्रदत्त नहीं हैं वहाँ एक सहज, सरल और आकर्षक आवाज़ की कमाई भी की जा सकती है, उसे अर्जित किया जा सकता है।

आवाज़ की कमाई के लिए कठिन अभ्यास की आवश्यकता पड़ती है। बिना किसी अभ्यास के अच्छी आवाज़ भी अपना लक्ष्य भेद करने में असमर्थ रहती है। स्वरों और व्यंजनों के लिए उनको उत्पन्न करने वाले अवयवों का विशेष उपयोग कैसे किया जाय इस पर ध्यान देना जरूरी है। कुछ कंठ से, कुछ तालव्य, कुछ मूर्धन्य, कुछ दन्त्य, कुछ ओष्ठ्य और कुछ अनुनासिक शब्द और स्वर बोली हुई भाषा को अपने सम्मिलित उपकरणों से सम्प्रेषित करते हैं। इसे दीर्घ और लघु और कभी-कभी प्लुत स्वर भेद से भी स्पष्ट किया जाता है। स्वराघात—थोड़ा ज़ोर देकर शब्द या स्वरों के उच्चारण से मन्तव्य को अधिक ग्रहणशील बनाया जा सकता है। स्वर-सन्धि जैसे (रामावतार), व्यंजन संधि जैसे (जगत+ईश = जगदीश), विसर्ग संधि (तप+वन = तपोवन) जैसे स्वर विन्यास की जानकारी और उनका अभ्यास अत्यन्त महत्वपूर्ण है। भाषा की इन बारीकियों से उत्पन्न प्रभाव को समझते हुए अपने अभीष्ट को कैसे सम्बोधित किया जाय, यह उद्घोषक की प्राथमिक आवश्यकता है।

इसी के साथ भाषा का ज्ञान और उसका रचनात्मक इस्तेमाल, उसका निजी और एकांतिक सम्बोधन विकसित करना है। यूँ कहिए कि रेडियो के माइक्रोफोन से सहज मैत्री कर लेना कठिन तो है परन्तु दुष्कर नहीं। शब्द की यह जानकारी व्यापक बनती जाती है। तत्सम, तद्भव या अर्धतत्सम या देशज शब्दों की पूँजी किस तरह वांछित प्रभाव के लिए प्रयोग की जा सकती है—यह उद्घोषक को ही रचनात्मक स्तर पर करना पड़ता है। विदेशी प्रभाव के अपनी भाषा-सम्पदा में आये हुए शब्द उद्घोषक की जानकारी के अंग होने चाहिये चाहे वे अँग्रेजी

के हों या फ़ारसी, अरबी, तुर्की, पुर्तगाली के हों या चाहे देश की अन्य भाषाओं से लिए हुए शब्द हों। इनका निरंतर अभ्यास, सही उच्चारण और कार्यक्रम के अनुरूप उसका चयन तत्काल कर लेना यही सफल उद्घोषक या अनाउंसर की कसौटी है। यह काम वह श्वास की क्रिया-प्रक्रिया नाक या गले से निकालकर, शब्द की लय बाँधकर और उच्चारण के अवयवों के सही इस्तेमाल से ही प्राप्त कर सकता है।

इतना ज्ञान और अभ्यास अर्जित करने पर ही वह अपनी भाषा के मिजाज़ से साक्षात्कार करता है। तभी वह किसी विशिष्ट विचार या भाव का उचित सम्प्रेषण कर पाता है। इस सम्प्रेषण में विश्वसनीयता सदैव प्रमुख तत्व रहती है। संवेदना की वाहक भाषा है ज़रूर लेकिन वह उसे सीमित भी करती है। वह काम स्वर या टोन के द्वारा सम्भव हो पाता है। असली मापदण्ड यह है कि उस बोली हुई भाषा से रस उत्पन्न हो रहा है कि नहीं? हमारा अन्तिम लक्ष्य रस का सर्जन ही है। इसके लिए भाषा ऊबड़-खाबड़ न होकर चौकस और रसमय हो यह लक्ष्य कभी ओझल नहीं होना चाहिए। विचार और भाव का समन्वय हो। अनाउंसर-भाषा के अभिधा, लक्षणा और व्यंजना इन तीन गुणों का अच्छा जानकार होता है। ऐसे शब्दों की वर्जना भी वह जानता है जो समाज में यद्यपि चल रहे होते हैं पर उनका उपयोग भाषा को सस्ता और बाज़ारू बना देता है। अतः उच्चारण और शब्दों का चयन अनाउंसर होने की एक सही मांग है।

भाषा को आलेखबद्ध करते ही अभ्यास की ज़रूरत शुरू हो जाती है। शब्दों और वाक्यों को परस्पर बांटने वाले चिन्हों का इस्तेमाल आलेख के लिए जरूरी है। यह विरामचिन्ह अर्थ को अधिक उजागर करते हैं। हिन्दी में इतने बहुअर्थी विरामचिन्ह नहीं थे। उन्हें हमने अंग्रेजी से लिया है। अब इन विरामचिन्हों का उपयोग बोलने में कैसे किया जाय कि लिखित शब्द अधिक सक्षम ढंग से अर्थवहन कर सके, यही समस्या रह जाती है। यह बलाघात उतार-चढ़ाव जगह-जगह अन्तराल या मौन का उपयोग करके किया जा सकता है। शब्द का स्वर-संधान या "थ्रो" (Throw) जिस तरह किया जाता है उससे भी बात को आसानी से ग्रहण करने में सुविधा होती है।

अब रेडियो में अलग-अलग कार्यक्रमों में ये सारे अवयव या उपकरण अलग-अलग कार्यक्रमों में एक कुशल अनाउंसर के द्वारा कैसे सार्थक ढंग से किये जाते हैं, यह देखने की बात है। उद्घोषक की निजी क्षमता उसके

अपने अर्जित ज्ञान और शारीरिक अभ्यास चेष्टाओं पर जहाँ बहुत कुछ निर्भर करती है वहीं अपने दिए हुए रेडियो के स्टूडियो के मशीनी उपकरण भी उसकी कार्य-कुशलता के पैमाने बन जाते हैं। माइक्रोफ़ोन का सही इस्तेमाल उससे सही दूरी, आत्मीयता बना करके भी उससे एक कलात्मक-तटस्थता बनाए रखना, फ़ेडरों का कुशल प्रयोग, हेडफ़ोन से प्रोग्राम मॉनीटर करने की क्षमता-अगले-पिछले कार्यक्रमों का तालमेल बिठाना—यह सब अनाउंसर की विशिष्ट योग्यता मानी गयी है।

कई कार्यक्रमों में नौसिखिए या नादान उद्घोषकों के कारण श्रोता के मन में खीझ पैदा होने लगती है। जो दो-चार प्रमुख भूलें हैं उनमें प्रमुख हैं संगीत के कार्यक्रमों का सही फ़ेड-इन करना और अक्सर गलत फ़ेड-आउट करना। फ़ेड-आउट करने की कला यदि अनाउंसर ने नहीं सीखी और समझी है तो वह अच्छे कार्यक्रम को नष्ट कर सकता है। संगीत के अनेक स्तरीय कार्यक्रम अनाउंसर के इस घातक हमले के शिकार हो चुके हैं। अक्सर नाटकों और वार्ताओं के साथ भी यह "दुर्घटना" घट चुकी है लेकिन उसका औसत कम है। दूसरी चूक अनाउंसर के द्वारा खाली अवधि की भरती के लिए चुने गये "फ़िलर" कार्यक्रमों से सम्बन्धित है। कभी-कभी बहुत छोटे अन्तराल के लिए-जिसे शब्दों से भरा जा सकता है—ये अनाउंसर असमय सांगीतिक फ़िलर का इस्तेमाल करते हैं।

रागों की नासमझी और एक वाद्यवादन के कार्यक्रम पर उसी ढंग के वाद्यवादन का दूसरा "फ़िलर" बजा देना जिस तरह का रस-विरोधाभास उत्पन्न करता है उससे वे क़तई परिचित नहीं होते। ऐसे ही ख़ास महफ़िली कार्यक्रमों के लिए भी वे कोई प्रभावोत्पादक तैयारी नहीं करते। वे कभी-कभी तो अत्यन्त छिछले, सस्ते और बाज़ारू होकर रह जाते हैं। कार्यक्रम की गरिमा जिस उद्घोषणा से स्थापित न हो वह अक्सर हास्यास्पद होकर रह जाती है। यदि अनाउंसर की कला विषयक पृष्ठभूमि सशक्त नहीं है तो वह अपनी भूल को कभी समझ नहीं पाता है।

एक अच्छा उद्घोषक बनने के लिए जरूरी है कि दूसरे केन्द्रों के श्रेष्ठ उद्घोषकों द्वारा विभिन्न उद्घोषणाओं को बराबर सुना जाय। उनके शब्द चयन और स्वर-संधान को आत्मसात् किया जाय और जहाँ जरूरत हो वहाँ आवाज़ की रचनात्मक अनुकृति की जाय। इसके लिए कोई बाहर का निर्णायक फ़ैसला नहीं दे सकता। स्वयं उद्घोषक के कान ही इसके सबसे बड़े निर्णायक हैं। अपनी आवाज़ की भूल-चूक को आवश्यकता पड़ने पर वह बार-बार रिकार्ड करके सुन भी सकता है। □□

रनिंग कमेन्ट्री—समर्थ वक्ता का चिरंतन अभाव

रनिंग कमेन्ट्री या जिसमें घटनास्थल से सजीव-आँखों देखा हाल-वर्णन किया जाता है, वह रेडियो की सबसे सनसनीखेज़, उत्तेजक और श्रोताओं को मंत्रमुग्ध करने वाली एक विधा है। इसे रेडियो तंत्र ने बहुत बाद में विकसित किया—एक तो कारण यह था कि इसमें किसी भी प्रतिबन्ध के बिना बोलने वाले को यह छूट मिल जाती है कि वह रेडियो तंत्र का उपयोग पूरे क्षेत्र को सम्बोधित करने के लिए तत्काल कर सके। चूंकि यह तात्कालिक क्रिया ही होती है इसलिए इस पर किसी तरह की कैंची लगाना सम्भव नहीं हो पाता। इसीलिए यह विधा किसी भी ग़ैर-जिम्मेदार हाथों में नहीं सौंपी जा सकती थी। इस जोखिम से हर सरकारी कर्मचारी अब भी बचना चाहता है। दूसरा कारण इस विधा को कार्यान्वित करने के लिए जिन तकनीकी उपकरणों की आवश्यकता पड़ती है वह सब पिछले दशक के पहले भारत में सहज ही उपलब्ध नहीं थे। दूर-दूर के घटनास्थलों से रेडियो केन्द्र को जोड़ना और फिर उसका समन्वयीकरण होकर अन्य केन्द्रों को वह प्रोग्राम उपलब्ध कराना यह सब प्रसारणतंत्र में अतिविशिष्ट पराक्रम और कौशल की माँग करता था। इसके अभाव में भी इस विधा का विकास नहीं हो पाया।

रेडियो की रनिंग कमेन्ट्री कई क्षेत्रों में लोकप्रिय हुई हैं। इनमें क्रिकेट मैचों की कमेन्ट्री अधिसंख्य श्रोताओं द्वारा सुनी गयी है—यहाँ तक कि कमेन्ट्री जो कि प्रायः शुरू-शुरू में अंग्रेजी में होती थी उसे न समझने वाले

भी इसे बड़े मनोयोग से सुनते थे। हिन्दी में यह रनिंग कमेन्ट्री तो बहुत बाद में शुरू हुई। भारत में क्रिकेट मैचों की देशव्यापी लोकप्रियता के पीछे रेडियो की 'रनिंग कमेन्ट्री' का भी हाथ है। दूसरी तरह की रेडियो रनिंग कमेन्ट्री उन लोकपर्वों, राष्ट्रीय आयोजनों, धार्मिक उत्सवों या सांस्कृतिक गतिविधियों को केन्द्र मानकर शुरू की गयी जिनमें क्षेत्र या देश के श्रोताओं की गहरी रुचि थी। अन्य खेलों की रनिंग-कमेन्ट्री भी श्रोताओं में अपने उत्तेजक स्वरूप के कारण बहुत सुनी जाती है। राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय और ओलंपिक खेलों की रनिंग कमेन्ट्री श्रोताओं को अपनी जेबों में छोटे-छोटे ट्रांजिस्टर सेट लेकर घूमने के लिए मजबूर करती है। तीसरी प्रकार की वह रनिंग कमेन्ट्री सामने आयी जो विशिष्ट व्यक्तियों के देहावसान या उनके अस्थि-विसर्जनों से सम्बन्धित रही है।

रेडियो कमेन्ट्री के इतने विविध रूप सामने आ जाने के कारण रेडियो पर सजीव आँखों देखा हाल सुनाने वाले विशेषज्ञों की जो माँग हुई, आकाशवाणी उसके अनुरूप प्रतिभाएं नहीं तैयार कर सकीं। वस्तुत: आकाशवाणी किसी भी तरह की प्रतिभा तैयार करने में अभी तक कोई पहल नहीं कर पायी है। वे जिनके पास कुछ भी जन्मजात क्षमता या रेडियो की प्राथमिक जानकारियाँ हैं उन्हीं को प्रसारण तंत्र ने रेडियो कमेन्ट्री के लिए इस्तेमाल किया। जहाँ तक खेलों की कमेन्ट्री का प्रश्न है उनमें जो पुराने खिलाड़ी खेल के मैदान से हट चुके थे उन्हें रेडियो ने कमेन्टेटर (व्याख्या करने के लिए) के रूप में चुना। अक्सर वे खिलाड़ी अच्छे होते हुए भी घटिया वक्ता होते थे और जो कुशल वक्ता थे उन्हें खेल की बारीकियों का कम पता होता था। वे श्रोता की सूक्ष्म आँखे नहीं बन पाते थे। परन्तु धीरे-धीरे इनकी शैली, ज्ञान और रेडियो के द्वारा श्रोता को अपनी दृष्टि से-संजय की भाँति-सामने घट रहे पूरे 'महाभारत' को दिखा देने की क्षमता विकसित होने लगती है। अब कुछ कमेन्टेटर खेलों को अंग्रेजी में ही नहीं हिन्दी में भी रोचक शैली में कौशल के साथ बखानते हुए श्रोता को मंत्रमुग्ध रखते हैं। कमेन्ट्री बिना अभ्यास के कभी विकसित नहीं हो सकती। हर बार यह कमेन्टेटर अपने लिए नयी चुनौती का सामना महसूस करते हैं।

वे कमेन्टेटर जो लोकपर्वों, मेलों, धार्मिक या सांस्कृतिक आयोजनों को श्रोता के लिए उपलब्ध कराते हैं, उनकी वर्णन शैली प्राय: किताबी हो जाती है। वे जीवन्त जगत से सीधा सम्बन्ध जोड़ नहीं पाते। उदाहरण

के लिए यदि कुम्भ मेले में किसी विशिष्ट पर्व के दिन रनिंग कमेन्ट्री हो रही है तो कमेन्ट्री करने वाला यदि सामने घटित-दृश्यों को वर्णित न करके केवल कुम्भ मेलों का इतिहास, किसी किताब से पढ़कर सुनाने लगे तो वह श्रोता के मन में ऊब और खीझ दोनों पैदा करता है। इसी तरह की स्थितियाँ अन्य लोकपर्वों और सांस्कृतिक आयोजनों के साथ घटती हैं जहाँ कमेन्ट्री करने वाले महानुभाव किताबों से वाचन करते हैं।

वे लोग जो शव यात्राओं पर कमेन्ट्री करते हैं वे अक्सर उस अति-विशिष्ट व्यक्ति की जीवन गाथाएँ तो बार बार दुहराते ही हैं, कभी-कभी अति नाटकीयता की नुमाइश करते हुए स्वयं भाव विह्वल होकर बोलने लगते हैं जो कि उस कमेन्ट्री में विद्रूप पैदा करता है। वे उन निरर्थक विस्तारों में चले जाते हैं जिनमें आम श्रोता की कोई रुचि नहीं होती। वे कमेन्ट्री के 'फ़ोकस' बिन्दु से हट जाते हैं। यह 'दुर्घटना' बार-बार इसलिए भी घटती है कि इसके लिए व्यावसायिक रूप से अभ्यासरत 'कमेन्टेटर' वर्ग की कोई शिक्षित जमात नहीं है।

कमेन्ट्री करने की कोई विशेष शिक्षण पद्धति अभी कहीं भी विकसित नहीं हुई है। अलग-अलग अवसरों पर कैसी रिपोर्टिंग की जाय, उसके लिए कैसी तैयारी की जाय, कैसे उपकरणों का इस्तेमाल किया जाय, कैसे कमेन्टेटर अपने को वर्णित दृश्य और श्रोता के बीच से ऐसा हटा ले कि बार-बार उसके अस्तित्व की खड़खड़ाहट का बोध न हो, कैसे वह श्रोता के एकान्त में विश्व के फलक पर घटने वाली महत्वपूर्ण स्थिति को उसके लिए सुलभ करा दे और उसमें वह उत्तेजना जागृत कर दे ताकि श्रोता उस आयोजन में अपने को शामिल मानने लगे—यही एक सफल कमेन्टेटर का कठिन इम्तहान है।

इस इम्तहान में बेदाग़ पास हो जाना अक्सर बड़ा मुश्किल काम होता है। एक अच्छा कमेन्टेटर माइक्रोफ़ोन पर जाने के पहले हमेशा बड़ी ज़बरदस्त तैयारी करता है। वह खुफिया पुलिस की तरह घटनास्थल की जाँच करता है, उसके ऐसे ब्यौरे इकट्ठे करता है जो प्रायः सामान्यतः उपलब्ध नहीं होते। वह व्यक्ति विशेष, घटना विशेष, पर्व विशेष या खेल विशेष की उतनी जानकारी प्राप्त कर लेता है जो अच्छे से अच्छे विशेषज्ञ के पास उपलब्ध होती है। उन जानकारियों के सहारे वह अपने नोट्स बनाता है—उन पर टिप्पणियाँ करता है और उस सबको एकाग्र होकर

अपने मनोजगत में बिठाता है। उसके पास सम्बन्धित विषय पर विपुल सामग्री एकत्र रहती है। इसे कमेन्ट्री की भाषा में 'पैडिंग' कहते हैं। अर्थात जब कहने के लिए सामने कुछ न हो तब उस पैडिंग में से चुनाव करके श्रोताओं को सम्बन्धित पर्व की भूमिका दी जा सकती है। कमेन्ट्री करने के काफ़ी देर पहले से वहाँ घटनास्थल पर पहुँच कर उस भीड़ से अपने को एकरस करना भी आवश्यक है नहीं तो अक्सर कमेन्ट्री पूरे आयोजन पर पैबन्द की तरह लगती है।

कमेन्ट्री शुरू करते ही अपने नाम के साथ श्रोता को अपने उस स्थान का ऐसा सटीक वर्णन देना जरूरी है जहाँ यदि वह श्रोता पहले कभी गया है या पहले जा चुका है तो उस स्थल से तादात्म्य हो जाय और उससे उसको सुने हुए को देख पाने की सुविधा मिल जाय। जो स्थल श्रोता का देखा हुआ न भी हो उसे ऐसा विशद और सटीक वर्णन मिलना चाहिए कि वह अपने कल्पनालोक में उस स्थल को केन्द्रित कर सके। उसके बाद ही उसे मुख्य आयोजन से अपने को जोड़ लेना चाहिए और जो कुछ सामने चल रहा है उस पर ध्यान केन्द्रित कर देना चाहिए। यदि वह कोई जुलूस की कमेन्ट्री कर रहा है तो उसे भीड़ की विविधता के साथ उन विशिष्ट व्यक्तियों का भी परिचय देना चाहिए जो उस भीड़ में शामिल हों। श्रोता की रुचि उसको जानने में रहती है। पर्व के जो विशेष आकर्षण हों उन्हें सामने लाना चाहिए और यदि मालूम हो तो पिछली परम्पराओं का उल्लेख उस सन्दर्भ में कर देना अच्छा लगता है। कभी-कभी अपने शब्दों को अतिरिक्त रूप से लादने का मोह छोड़कर उस आयोजन के जो ध्वनिचित्र उभर रहे हों उनको सीधे माइक्रोफ़ोन पर दे देना चाहिए। कमेन्टेटर की बात में इन ध्वनि-चित्रों से प्रामाणिकता आती है और शब्दों की उबाऊ एकरसता टूटती है। कुछ निषेध भी कमेन्टेटरों के लिए परम आवश्यक है। जहाँ उन्हें उपयोगी सूचना को देने की पूरी छूट रहती है वहाँ ऐसी किसी बात का उल्लेख जो व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर रही हो या श्रोताओं के मन में भय या आशंका उत्पन्न कर सकती हो या जो किसी तरह के घृणाभाव को जन्म देती हो ऐसी स्थितियों के बखान से सजग कमेन्टेटर को हमेशा बचना चाहिए। अति नाटकीयता और भाव विह्वल होकर बोलने का पाखण्ड कमेन्टेटर को करना शोभनीय नहीं। सामान्य श्रोता उस नाटकीयता पर मुस्कराता है। कमेन्टेटर एक तटस्थ-द्रष्टा है। वह यथातथ्य वर्णन करता है।

उसकी कही हुई बातें चूंकि सद्यः घटनाजन्य होती हैं इसलिए वे आवश्यकता पड़ने पर प्रमाण के रूप से प्रयुक्त होती हैं (कुम्भ मेले में हुई एक दुर्घटना की जाँच-कमेटी ने 'रनिंग कमेन्ट्री' की रिकार्डिंग की प्रमाण के रूप में सुनवाई की थी) इसलिए भी यह नितांत वांछनीय है कि रेडियो कमेन्ट्री में लगा हुआ व्यक्ति अपने को किताबी कमेन्ट्री करने के बजाय अपने को यथातथ्य वर्णन तक सीमित रखे।

जैसा कि हमने पहले कहा इस क्षेत्र में अलग ढंग की प्रतिभाओं का विकास आकाशवाणी को करना चाहिए। वे जो बड़े विद्वान न भी हों परन्तु जीवन्त वक्ता हों, जिनकी वाणी में श्रोता को प्रामाणिकता का आभास मिलता रहे, जिन्हें अपने देश की संस्कृति का सम्यक ज्ञान हो, जो छोटी सी छोटी अवधि में भी श्रोता को देश की अस्मिता की एक झलक दिखा सकने में किसी भी बहाने से समर्थ हों, उनकी तलाश हमें जारी रखना चाहिए। उनके अभ्यास के लिए अवसर निकालने चाहिए।

□□

रेडियो वार्ता के चौखटे : कितने ढीले, कितने कसे ?

प्रसारण की विधा में एक ज़माना पहले रेडियो का वार्ता विभाग एक ऊँची हैसियत वाला विभाग माना जाता था। जो लोग कार्यक्रम करते-करते अनुभवी हो चुके होते थे और जिनके क्षेत्रीय वी० आई० पी० लोगों से अच्छे सम्बन्ध माने जाते थे वे ही इस कार्यक्रम के संचालक (प्रोग्राम असिस्टेंट / कार्यक्रम अधिशासी) बनाए जाते थे। उनकी सीधी निगरानी केन्द्र निदेशक करता था। वे एक तरह के सम्पर्क अधिकारी भी समझे जाते थे। इसमें भी जो अंग्रेजी वार्ताओं का कार्यक्रम देखते थे उनकी हैसियत अंग्रेजी भाषा के नाम पर और भी ऊँची मानी जाती थी। ये वार्ताएँ बोलने के लिए जिनको दी जाती थीं वे अपने क्षेत्र के विशिष्ट-मान्यव्यक्ति होते थे। प्राय: श्रवणीय न होने पर भी वे दर्शनीय तो होते ही थे। ऐसे वार्ताकारों की वार्ताओं को 'पर्सनाल्टी टॉक' (महत्वपूर्ण व्यक्तित्व वार्ता) कहा जाता था। ऐसे कार्यक्रमों का शिड्यूल भी बड़े ठसके के साथ बनता था और पूरे केन्द्र के कार्यक्रमों का सिरताज माना जाता था। इनकी अवधि दस से पन्द्रह मिनट तक की होती थी। बहुधा ये वाताएँ ऐसे विषयों पर होती थीं जो अधिकांशत: जनजीवन से कटी हुई और किताबी होती थीं। उन्हें सुनने वालों की संख्या स्वल्प होती थी। इन तमाम विरोधाभासों के बावजूद भी वार्ता विभाग की हैसियत में कोई कमी नहीं आंकी जाती थी।

यह सब रेडियो व्यवस्था में पहले वक्तों की बातें हैं। उत्तरोत्तर रेडियो की वार्ताएँ जो मूलत: उच्चरित शब्द की प्रभविष्णुता से श्रोता

का सहज साक्षात्कार कराती थीं—निरर्थक सिद्ध होने लगीं। अदृश्य शब्दों की ग्रहणशीलता की एक सीमा होती है। उस सीमा को लाँघने से मात्र जानकारी या एकेडमिक बहस बहुत देर तक रोक नहीं सकती। इसीलिए ये वार्ताएँ क्रमशः अपना आकर्षण खोती गयीं। सरकारी प्रचार माध्यम होने के कारण उसके ज़रिए अखबारों की तरह ऐसा कुछ नहीं कहा जा सकता था जो सुनने वालों की दिलचस्पी को जगाता या उसे बनाए रखता। इसीलिए ये अझेल, खीझ पैदा करने वाली प्रचारात्मक भाषा फ़िल्मी गानों के सामने भी हार गयी।

सिर्फ विषयों का चुनाव या वार्ताक्रम की घिसी-पिटी रूपरेखा ही इस वितृष्णा का एकमात्र कारण नहीं था। वे लोग जो इन वार्ताओं के लिए निमंत्रित किए गये उन्होंने भी इस पर कभी समुचित ध्यान नहीं दिया। इनमें से अधिकांश वे जो अध्यापक, पत्रकार, नेता, वकील, डाक्टर जो भी आते उनके दिमाग में केवल छपे हुए शब्दों में अभिव्यक्ति की परम्परा थी। उनका ज्ञान छपे हुए शब्दों से ही विकसित हुआ था और वे उसी तरह से अपनी बात सोचने और कहने के आदी थे। उनकी यह आदत छुड़वायी नहीं जा सकी : एक तो उनके अक्सर वी० आई० पी० (अति महत्वपूर्ण व्यक्ति) होने के कारण और दूसरे स्वयं वार्ता विभाग के तथा-कथित 'प्रोड्यूसरों' के निकम्मेपन के कारण। वार्ता विभाग के प्रोड्यूसर कार्यक्रम अधिशासी सभी केन्द्रों पर थे लेकिन वार्ता में कहीं सिवा इस प्रतिबन्ध के कि सरकार या व्यवस्था के खिलाफ कुछ कहा न जाय—इसके आगे ये वार्ता को प्रभावशाली ढंग से सम्प्रेषित करने के लिए कुछ नहीं कर पाते थे। अक्सर तो वार्ता के आलेख दी हुई अवधि को भी पार करने का 'दुस्साहस' कर जाते थे और बोले हुए आलेख में 'निम्नलिखित' 'ऊपर कहे हुए' जैसे शब्दों की भरमार बनी रहती थी।

रेडियो प्रसारण के कच्चे माल को ठोंक-पीट कर सुसज्जित ढंग से प्रस्तुत करने में ही कलात्मक दृष्टि उत्पन्न हो सकती है। रेडियो में इसे अनिवार्य 'रिहर्सल' या पूर्वाभ्यास के नाम से जानते हैं। प्रायः वार्ताकार रिहर्सल को अपनी अवमानना समझते हैं। अपने तथाकथित 'स्वाभिमान' (?) के कारण रिहर्सल की उपयोगिता को कभी समझ नहीं पाते। इसी-लिए अपने (?) ही लिखे शब्दों पर अटकना, गलत क्रियापदों का इस्तेमाल, वाचन में अनावश्यक गतिवृद्धि या गति डुबाव, सही जगह पर स्वरों के उतार-चढ़ाव में चूक और अन्ततः किसी प्राइमरी स्कूल की

पाठशाला में पहाड़ा रटते हुए बालकों की वाचन शैली में दस-पन्द्रह मिनट तक श्रोताओं की सहनशीलता की वे परीक्षा करते हैं।

बोले हुए शब्दों में स्वर-विन्यास, आवाज़ का उतार-चढ़ाव और बलाघात का सही अन्दाज़ होना परम आवश्यक है। छपे हुए शब्द में हमें बहुत से विरामचिह्न कोष्ठकों या शब्दों को रेखांकित करने के सुलभ तरीके उपलब्ध हैं जिनसे बात को सम्प्रेषित करने में सुविधा होती है। बोले हुए शब्दों में हमें यह सारे काम केवल अपने स्वर-विन्यास और आवाज़ के उतार-चढ़ाव से ही उत्पन्न करने होते हैं। शब्द और वाक्यों को परस्पर बाँटने का काम भी हम आवाज़ के सहारे ही करते हैं। विराम, अर्ध-विराम, प्रश्नचिह्न, आश्चर्य सूचक चिह्न, कोष्ठक या उद्धरण दिए गये अंशों को मूल कथन से भिन्न अभिव्यक्ति देने का काम सक्षम वार्ताकार की आवाज़ ही करती है। यह सारा शिल्प यदि किसी दानिश और सक्षम वार्ताकार के हाथ में आ गया तो वह चाहे गूढ़ वेदान्त दर्शन न भी छांट रहा हो तो भी अपनी सहज बात को श्रोता के मन पर अमिट छाप लगाकर छोड़ जाएगा। सिर्फ़ शब्दों को लगातार पढ़ते रहना ही नहीं—कहीं-कहीं अत्यन्त अर्थवान 'पॉज़' (मौन) भी बहुत कुछ सम्प्रेषित कर देता है। इसकी समझ विरले वार्ताकारों में ही होती है। जाहिर है कि अन्य शिल्पों की तरह इस कला को क्रमशः अभ्यास से ही विकसित किया जा सकता है। यह इस पर भी निर्भर करता है कि अभ्यास कराने वाला गुरु (प्रोड्यूसर) स्वयं इस कला में कितना पारंगत है और अपने वार्ताकार को इस कौशल में यक़ीन लाने के लिए क्या कर सकता है।

रेडियो वार्ताओं की अवधि पाँच-छः मिनट से अधिक होने पर वह श्रोता की ग्रहणशीलता की सीमा को लाँघने लगती है। कुछ वार्ताकार अपनी लम्बी वार्ताओं को तीव्र गति में पढ़कर अवधि के भीतर ख़त्म करने की कोशिश करते हैं। इससे उन्हें अपने लिखे हुए को पढ़ने का सुख भले ही मिल जाय परन्तु रेडियो के सूक्ष्म माध्यम को ध्यान में रखते हुए श्रोता उन बोले हुए शब्दों से एकदम कट जाता है। बोले हुए शब्द की गति क्या हो, इसकी समझ अत्यन्त आवश्यक है। बोलने वाले को यह अहसास नहीं होता कि जहाँ छपे हुए शब्द को दुबारा पढ़ने की सुविधा रहती है— वहाँ बोले हुए शब्द की डोर एक बार टूट जाने पर दुबारा नहीं पकड़ी जा सकती। इसीलिए कही हुई बात का क्रम यदि

एक बार कहीं से टूट गया तो श्रोता के लिए आगे कुछ भी सुनना बेमानी होता है। इसीलिए कहा जाता है कि रेडियो पर बोलते हुए एक ही बात को कई तरह से घुमाकर कई बार कहना चाहिए। इस दृष्टि से छापें में जिस पुनरावृत्ति को अवगुण माना गया है, वह रेडियो वार्ता में सद्गुण के रूप में समझा गया है।

जो शब्द और स्वर की ऐसी साधना करते हैं कि वे अपनी अभिव्यक्ति को सहज ढँग से अपने सुनने वाले को एकाग्रचित्त से अपना अनुभव सम्प्रेषित कर सकें उनके लिए स्वर संधान का यह अभ्यास अत्यन्त महत्वपूर्ण है। सम्प्रेषणीयता के इस अनुभव को एक सहज श्रोता होकर ही प्राप्त किया जा सकता है। किसी सीमा तक संगीत की प्राथमिक साधना के लिए जो आवश्यक प्रावधान हैं वे रेडियो के एक अच्छे वार्ताकार के लिए भी आवश्यक हैं। रेडियो तंत्र अभी बहुत दिनों तक बोले हुए शब्दों की प्रचार शक्ति से अभिभूत होने का 'भरम' बनाए रखेगा—और तमाम फाइलों की खानापूरी के लिए इन्हीं बोले हुए शब्दों के जोड़-घटाव से आँकड़े पूरा करता रहेगा। इसीलिए वार्ताओं का यह क्रम रेडियो की तरह की प्रसारण विधा में घुसा बैठा हुआ है। यदि इस विधा को सही मायने में सक्षम बनाना है तो समय है कि वार्ता और वार्ताकारों के दिमाग़ और शिल्प कौशल के चौखटों को एक बार फिर कस लिया जाय।

□□

घर बैठे कान आँख :
रेडियो रिपोर्ट का शिल्प

रेडियो रिपोर्ट आजकल प्रसारण तंत्र में लगभग हर केन्द्र से दैनिक दिनचर्या प्रोग्राम की भाँति ब्राडकास्ट की जाती है। किसी भी घटना, महत्वपूर्ण व्यक्ति अथवा सामान्य जन-जीवन को प्रभावित करने वाली स्थितियों का तात्कालिक यथासाध्य वर्णन रेडियो रिपोर्ट की मुख्य विषय वस्तु बनती है। इनमें राजनीतिक घटनाएं, महत्वपूर्ण व्यक्तियों के जन सम्बोधन, सामाजिक या सांस्कृतिक घटनाएं, रेडियो रिपोर्ट को श्रोता के निकट शीघ्रता से सम्प्रेषित करती हैं।

रेडियो रिपोर्ट इस प्रकार अपनी मूल कल्पना में पत्रकारिता से पूरी स्पर्धा करती है। रेडियो रिपोर्ट चूंकि यथातथ्य स्थिति का परिवेश समेटकर यथार्थ उच्चरित शब्दों के माध्यम से अपने को प्रामाणिक बनाती है इसलिए वह किसी पत्रकार की कलम से अधिक विश्वसनीय हो जाती है। दूसरी बात रेडियो की ध्वनि तरंगों की तीव्रगामिता सम्पूर्ण मंतव्य को श्रोताओं तक न केवल सुदूर अंचलों में फैलाती है बल्कि वह तत्काल ही सम्प्रेषित होने का सामर्थ्य भी रखती है। अखबार को सुदूर क्षेत्रों तक पहुँचना और वह भी तत्काल पहुँचना दुर्गम है—पहले तो छपाई के माध्यम का सहारा और दूसरे डाक संचार व्यवस्था की कमी। इसी कारण रेडियो रिपोर्ट रेडियो की खबर की ही तरह श्रोता को आकर्षित करती है।

रेडियो रिपोर्ट बनाना कठिन शिल्प कौशल की माँग करता है। इसमें रेडियो का माइक्रोफ़ोन अत्यन्त महत्वपूर्ण है जो यथातथ्य वर्णन को

दर्ज करता चलता है। उस समस्त दर्ज की हुई सामग्री को प्रत्युत्पन्न-मतित्व से सम्पादित करके महत्वपूर्ण बातों को सामने लाना और अप्रासांगिक या अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण तथ्यों को छोड़ देना-और यह सब भी एक समिति अवधि के भीतर सम्पन्न करना-उन सभी तथ्यों को जोड़कर पूरी घटना या स्थिति का श्रोताओं से सम्यक परिचय कराना — यह सब एक कुशल और सफल रेडियो रिपोर्ट की कसौटी है। यह काम अखबारनवीसी से जटिल है क्योंकि इसमें सोचने, काट-छांट करने और एक विशिष्ट मन्तव्य को फ़ोकस करने के लिए बहुत ही कम समय रहता है। यह कार्य लम्बे अनुभव की माँग करता है।

श्रोता के लिए यह रिपोर्ट बनाना और जैसा अभी उल्लेख किया जा चुका है सभी प्रक्रिया एक साथ सम्पन्न कराना और एक 'आँखों देखी कानों सुनी' प्रामाणिक तस्वीर श्रोता के चित्त पर उतारना तब तक कठिन होगा जब तक उसके लिए पूरी तैयारी न की जाय। यह एक कलात्मक अनुभव है। कलात्मक अनुभव कहते ही हम किसी घटना या स्थिति विशेष की रेडियो रिपोर्ट तैयार करते समय इस बात को ओझल नहीं होने देते कि रिपोर्टिंग का केन्द्र विन्दु कितना मानवीय है। यह रिपोर्ट जितनी ही कलात्मक होगी उतनी ही असरदार होगी। कला का ध्येय मानवीय चित्त को उदात्त बनाना है। उसे करुणाद्रवित करना है। इसके लिए रेडियो रिपोर्ट बनाते समय किस दृष्टिकोण से उसका प्रोड्यूसर उस यथातथ्य को ग्रहण करता है इस पर बहुत कुछ रेडियो-रिपोर्ट का आकर्षण बनता है। रिपोर्टिंग की इसी कलात्मक विधा को साहित्य में 'रिपोर्ताज' के नाम से जाना गया जिसमें यथासाध्य वर्णन को कलात्मक ऊंचाइयां देने का प्रयत्न किया जाता रहा है। रूसी लेखक इलिया एहरनबुर्ग रिपोर्ताज की इस कला के लिए जाना जाता है। इस देश में रेडियो रिपोर्टिंग की कला दिनचर्या जैसी होने पर भी अभी विकसित नहीं हुई है।

जैसा अभी कहा रेडियो रिपोर्ट के लिए कुशल और अनुभवी प्रोड्यूसर की सख्त जरूरत होती है जब कि हर केन्द्र पर इसे चलताऊ ढंग से रोज़मर्रा का एक प्रसारण मान लिया गया है। चूँकि रेडियो रिपोर्ट मानवीय ज्ञान के किसी भी जाने हुए विषय पर, स्थितियों पर या क्षेत्र विशेष पर बनायी जा सकती है इसलिए इस कार्यक्रम के प्रोड्यूसर को तमाम बातों की जानकारी हस्तामलकवत् होनी चाहिए। चाहे यह

रेडियो रिपोर्ट बाढ़ पर हो या सूखा पर, चाहे किसी मेले पर चाहे किसी नदी योजना पर, चाहे किसी विशेष उत्सव या आदिवासियों के जीवनवृत्त पर, चाहे महानगरियों के बिजली-पानी के संकट पर, चाहे रोटी-कपड़ा और मकान की समस्याओं पर हो चाहे राजनेताओं के भाषणों पर और उनके द्वारा महत्वपूर्ण योजनाओं के शुभारम्भ पर और चाहे देश की विभूतियों की शव यात्रा पर—हर जगह रेडियो रिपोर्ट तैयार करने वाले को जो हो रहा है उसके साथ ही स्थिति की—भूमिका की—उस क्षेत्र की परम्परा की—इतिहास की— और सांस्कृतिक गतिविधियों की—पूरी जानकारी होनी ही चाहिए। श्रोता जब किसी यथास्थिति को ग्रहण करता है तो वह शून्य में नहीं ग्रहण करता। उसके दिमाग पर अपनी परम्परा, इतिहास, सांस्कृतिक विरासत, यह सब पृष्ठभूमि में बने रहते हैं। इसलिए वह श्रोता या तो उस रेडियो रिपोर्ट को सहज उत्सुकता से ग्रहण करता है अथवा उसे अप्रमाणिक या निरर्थक समझकर रद्दी की टोकरी में फेंक देता है। यही रेडियो रिपोर्ट जब कलात्मक अनुभव से जुड़कर सामने आती है तो एक अत्यन्त साधारण सी घटना को सुनने वाले के मन में हो रहे अविच्छिन्न कालप्रवाह से जोड़ देती है। रेडियो रिपोर्ट की यही विशेषता है।

दूसरी बात इसे तैयार करते समय रेडियो की दी हुई अवधि और शीघ्र से शीघ्र श्रोता तक पहुँच जाने की माँग होती है। ये दोनों शर्तें कई स्तरों पर सजग और कभी कभी भागम-भाग की स्थितियाँ पैदा करती हैं। इस अफ़रातफरी में भी मूल कथ्य खोने न पाये और किसी अन्य दूसरे माध्यम की अपेक्षा शब्द और ध्वनि की यह विधा श्रोता तक सबसे पहले पहुँच जाय यह एक बड़ी भारी चुनौती रहती है। इसके लिए स्वयं उस कार्यक्रम के प्रोड्यूसर को कम से कम शब्दों का इस्तेमाल करना और कलागत तथ्य को उसी में सम्प्रेषित कर देना कठिनतर दायित्व है।

इसके अलावा भी कुछ ऐसे विषयों पर रेडियो रिपोर्ट तैयार की जा सकती है जो उतनी तात्कालिकता की माँग नहीं करते लेकिन सम-सामयिक परिवेश को रेखांकित करते रहते हैं। इनमें ऐसे विषय या ऐसी घटनाएं या स्थितियाँ शामिल की जा सकती हैं जिनका प्रभाव समाज में धीरे-धीरे लेकिन गहरे रूप में व्याप्त होता है—जैसे दैनिक अखबार के समाचार हैं फिर साप्ताहिक अखबार हैं फिर पाक्षिक और फिर कुछ मासिक पत्रिकाएं भी उनके साथ चलती रहती हैं। एक खेले

हुए नाटक की रिपोर्ट या किसी साहित्यिक सभा का समाचार या किसी कला वीथिका का उद्घाटन-जहाँ एक दैनिक समाचार पत्र के लिए न्यूज है वहाँ वह किसी साप्ताहिक के लिए-पाक्षिक के लिए या मासिक या त्रैमासिक पत्र के लिए भी एक महत्वपूर्ण घटना हो सकती है। पत्रकार इन काल अवधि के प्रकाशन अन्तरालों को देखते हुए अपनी रिपोर्टिंग की शैली में बदलाव करता है और स्थितियों को सामाजिक मूल्यों से जोड़ने की अपनी दृष्टि का इस्तेमाल करता है। इसी रूप में एक ही घटना कई तरह से कई स्थलों पर अलग-अलग ढंग से अभिव्यक्त होती है। रेडियो रिपोर्टिंग में काल के इन अन्तरालों में जो अनकहा घटित हो रहा है उसे पकड़कर उसे समाचार सन्दर्भ देने की बात कहीं भी कलात्मक स्तर पर देखने को नहीं मिलती। मेला, बाढ़, सूखा, कवि सम्मेलन, संगीत सम्मेलन, चित्रकला प्रदर्शनी, संग्रहालयों के उद्घाटन, बच्चों के खेलने के पार्क, नई रेलवे लाइन, बार्डर्स की समस्या सब जुड़कर जहाँ नये मनुष्य को निर्मित करने का, उनके उत्साहों और हताशाओं का संवेग प्रगट करने का जो अन्तर्भूत सत्य है वह इन रेडियो रिपोर्टों में शामिल करने योग्य नहीं समझा गया। अधिक से अधिक उसने वृत्तरूपक (डाक्यूमेंटरी फीचर) ही बनाए जो एक विषय का यथा-तथ्य वर्णन करके चुक जाते हैं।

ध्वनि की सामर्थ्य और उसके द्रुतगामी स्वभाव को जब तक पूरी तरह से अपनी बात कहने के लिए इस्तेमाल न किया जाएगा तब तक रेडियो रिपोर्ट की कला विकसित नहीं हो सकती। जैसा हम पहले कह आये हैं इसके लिए अनुभवी प्रोड्यूसरों की नयी जमात तैयार करनी होगी जिसकी तरफ अभी प्रसारण तन्त्र का ध्यान ही नहीं जाता।

□□

कम्पेयरिंग क्या और कैसे ?

रेडियो के कार्यक्रम को लोकप्रिय बनाने में और श्रोता तक उसे सहज भाव से अनुभवगम्य बनाने में 'कम्पियर' का बहुत महत्व है। इसका उपयोग विविध कार्यक्रमों में किया जाने लगा है। ग्रामीण कार्यक्रमों की प्रस्तुति से लेकर संगीत के विशिष्ट कार्यक्रम 'कम्पियर' के द्वारा प्रस्तुत किये जाते रहे हैं। उनका व्यापक प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। वस्तुतः 'कम्पीयर' श्रोता और वक्ता के बीच एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। वह कभी श्रोता के प्रतिनिधि के रूप में बोलता है तो कभी वक्ता की ओर से श्रोता को अतिरिक्त स्पष्टीकरण देता है।

'कम्पियर' फ्रांसीसी भाषा का मूल शब्द है। प्रायः रेडियो के लोग इसे, तुलना करने वाले समानार्थी अंग्रेजी शब्द 'कम्पेयर' समझ कर इसका इस्तेमाल करते हैं !! यह 'कम्पेयर', मुख्य सूत्रधार होता है जिसे टिप्पणीकार या व्याख्याकार न कहकर उत्सव संयोजक (मास्टर ऑफ़ सेरेमनीज़) कहना उचित होगा। यह 'पीर बावर्ची भिश्ती खर' सब कुछ एक साथ होता है। वह श्रोता के पूर्वाग्रहों को तोड़ता चलता है और वार्ताकार की बातों से उसका (श्रोता का) तादात्म्य बिठाता चलता है। विशेष श्रोतावर्ग के लिए प्रसारित होने वाले कार्यक्रमों में जैसे—ग्रामीण श्रोताओं के लिए कार्यक्रम, या महिलाओं के लिए कार्यक्रम, या बच्चों अथवा युवावर्ग के लिए कार्यक्रमों में यह 'कम्पेयर' अतिशय महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। अक्सर जहाँ एक से ज्यादा 'कम्पेयर' होते हैं वे विभिन्न श्रोताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं—कोई पढ़ा-लिखा नौजवान

है तो कोई गाँव का बड़ा-बूढ़ा रूढ़िग्रस्त चौधरी या महिला। उसके परस्पर सम्भाषण से श्रोता को यह लगने लगता है कि जो व्यक्ति रेडियो से बोल रहे हैं, वे उन्हीं के सहज रूप हैं।

कम्पेयर का सर्वप्रथम यह कर्तव्य है कि वह आने वाले कार्यक्रम की समुचित पृष्ठभूमि तैयार कर दे जिससे श्रोता मानसिक रूप से तैयार हो जाय। कम्पेयर का कौशल इस बात से परखा जाता है कि वह किसी भी कार्यक्रम को श्रोता के ऊपर आरोपित न होने दे। जो कुछ आरोपित होकर सामने आता है उसमें श्रोता की पूर्व पीठिका बाधा के रूप में अक्सर खड़ी हो जाती है। कम्पेयर इस बाधा को निरन्तर अपने वाक कौशल से ध्वस्त करता रहता है। ग्रामीण कार्यक्रम के सन्दर्भ में 'कम्पेयर' का विशेष महत्व है।

ग्रामीण श्रोता परम्परा से बँधा होता है। अक्सर यह परम्परा उसे रूढ़ि या किसी लीक से बाँध देती है। आधुनिक चेतना की किसी नयी दृष्टि से वह सहज ही आकर्षित नहीं होता। उसे उस परम्परा को या लीक को छोड़कर दूसरा मार्ग पकड़ने के लिए मार्ग निर्देशक की व्यवस्था पर विश्वास होना चाहिए। बिना विश्वास के वह किसी तरह का जोखिम उठाने के लिए तैयार नहीं होता। इसीलिए अक्सर कॅम्पेयर को क्षेत्रीय बोलियों का सहारा लेना पड़ता है। ग्रामीण अंचलों की बोलियाँ जैसे—उत्तर प्रदेश में ब्रजभाषा, अवधी, भोजपुरी, बुन्देलखण्डी (कहीं-कहीं बघेलखण्डी) कुमायूंनी, गढ़वाली आदि बोलियाँ कम्पेयर के द्वारा बोली जाने से श्रोता के साथ अधिक तीव्रता से तादात्म्य होता है। अक्सर इनके बीच में खड़ी बोली हिन्दी का प्रयोग सारी बोलियों को एक सूत्र में गूँथता रहता है। इस प्रकार समर्थ और कलात्मक 'कम्पेयरिंग' विविधता के बीच से एकता का तथ्य बार-बार प्रतिध्वनित करती रहती है। छोटी-छोटी बातों को जिन्हें वक्ता कलाकार सामान्य समझते हैं उन्हें उनके समुचित परिप्रेक्ष्य में रखकर 'कम्पेयर' जिस तरह से श्रोता के निजी आचरण को व्यापक सामाजिक परिवेश से सहज ही जोड़ देता है वह अन्यत्र दुर्लभ और प्रायः असम्भाव्य है।

एक महत्वपूर्ण बात है कम्पेयरिंग का लिखित अथवा अलिखित होना। रेडियो में अक्सर अलिखित शब्दों को लेकर ऐसी जोखिम भरी 'दुर्घटनाएँ' घट चुकी हैं जिनको प्रसारण करने वालों ने इधर काफी झेला है। यदि कार्यक्रम जीवन्त—'लाईव'—होते हैं तो यह खतरा

हमेशा बना रहता है। इसके लिए अब तमाम कार्यक्रमों को पहले से रिकार्ड करके तब उन्हें प्रसारित करने की घेराबन्दी की गयी है। सही है कि रिकार्ड किए हुए कार्यक्रम में काट छाँट की गुंजाइश बहुत है लेकिन जीवन्तता और उछाह जो प्रत्यक्ष प्रसारण में प्रकट होता है वह रिकार्ड किए हुए कार्यक्रमों में नहीं आ पाता। उसका कारण एक यह भी है कि वक्ता या कलाकार की सम्पूर्ण आन्तरिक ऊर्जा समय के जोखिम और चुनौती को उठाने के लिए पुंजीभूत नहीं हो पाती। इसके विपरीत उसे यह विश्वास रहता है कि वह जो कुछ भी कह-सुन या गा-बजा रहा है, वह पुनरावृत्ति करके फिर से सुधारा जा सकता है। यह पुनरावृत्ति करने की सुविधा कलाकार की बेसिक क्षमता को पूरी तरह उभर कर नहीं आने देती। कम्पेयर की जीवन्तता, बिना उस चुनौती के, कभी पूरी तरह प्रतिफलित नहीं हो पाती। बहुत हद तक कमोबेश यही स्थिति लिखित कम्पेयरिंग के साथ घटती है। अक्सर वह लिखित कम्पेयरिंग पूरे कार्यक्रमों पर टिप्पणी या सहज व्याख्या न होकर सब कुछ पूर्व-नियोजित और सधा-बधा लगता है और एक तरह की 'मिली-कुश्ती' का माहौल पैदा करता है। श्रोता को लगने लगता है कि उसके साथ धोखा किया गया है। और वे जो उस कम्पेयर के माध्यम से अपना विश्वास बोले हुए शब्दों पर जुटा रहे थे वह सहसा उस किताबी, उबाऊ और एकरस कम्पेयर की आवाज से ध्वस्त हो जाता है। इसीलिए प्रसारण के सम्बन्ध में यह बहुत महत्वपूर्ण शिल्पकौशल माना गया है जहाँ लिखित शब्द होने पर भी वे केवल बोले हुए शब्दों का ही रूप उजागर करते रहें। इसके लिए कठिन अभ्यास की आवश्यकता पड़ती है जहाँ लिखे हुए शब्द आत्मसात होकर सहज उच्चरित शब्दों का रूप ले लेते हैं।

कम्पेयरिंग एक तरह की 'रनिंग कमेन्ट्री' है—जो कुछ चल रहा है उसकी अतिरिक्त व्याख्या-वह भी कार्यक्रम के साथ-साथ। श्रोता को दो स्तरों पर सुनने का मनोयोग करना पड़ता है—एक तो जहाँ मुख्य कार्यक्रम उसके लिए प्रसारित किया जा रहा है, दूसरे वहाँ जहाँ उस कार्यक्रम पर टिप्पणी, व्याख्या या उसका स्पष्टीकरण हो रहा है। इस कारण कम्पेयर को कहाँ बोलना है और कहाँ मौन रहना है इसके बारे में उसे अतिशय सतर्क रहना चाहिए। अतिमुखर और वाचाल कम्पेयर भी कार्यक्रम में व्यवधान पैदा करता है जिससे श्रोता को बेइन्तहा खीझ

होती है। इसी तरह कठिन तथ्यों को यदि स्पष्टोक्ति से समझाया न गया तो भी श्रोता को दिक्कत होती है। गलत जगहों पर यदि कम्पेयर अतिरिक्त रस लेकर समझाने की चेष्टा करता है तो कम्पेयरिंग के अश्लील हो जाने का भी खतरा पैदा हो जाता है। परिवार नियोजन सम्बन्धी कार्यक्रमों में इस तरह की अश्लीलता अक्सर आने का खतरा पैदा कर देती है। कम्पेयर इसीलिए कार्यक्रम में शामिल होकर भी उससे तटस्थ रहता है। उसका यह कलात्मक अनासक्ति-योग उसकी प्रस्तुति को विश्वसनीय बनाता है।

□□

स्टाक-करेक्टर का श्रोता के लिए महत्व

रेडियो कार्यक्रमों को लोकप्रियता देने वाला एक विशिष्ट पात्र प्रसारण कला माध्यम में उभर कर आया है—वह है एक रूढ़पात्र की परिकल्पना। श्रोता के श्रवण मनोविज्ञान पर आधारित यह रूढ़ पात्र प्रायः भाषिक या बोले जाने वाले कार्यक्रमों में प्रभावशाली ढंग से अपनी जगह बनाता है। इसके द्वारा श्रोता मनोरंजन पाता हुआ अपनी रूढ़िगत मान्यताओं और संस्कारों से क्रमशः मुक्त होता है। यही इन रूढ़ पात्रों का प्रसारण कला में मुख्य योगदान है। इन्हें अंग्रेजी में 'स्टाक करेक्टर' भी कहा गया है।

वस्तुतः ये 'स्टाक-करेक्टर' या रूढ़ पात्र श्रोता के पूर्व परिचित, परिकल्पित और अनुभवसिद्ध मानस-कोश से लिए जाते हैं। इसलिए वे श्रोता के लिए अक्सर जाने-पहचाने पात्र लगते हैं। यदि वे सम्पूर्ण रूप से उनके या उनकी परिकल्पना के अनुरूप न भी हों तो भी उनका एक खाका या मूल ढाँचा श्रोता के मन में बना हुआ रहता है। लेखक जो ऐसे रूढ़ पात्रों को पुनर्जीवित करता है, वह उस पात्र में अपने अनोखे रंग भरकर उन्हें श्रोता के मानस में साकार कर देता है। ये रूढ़ पात्र अपने व्यवहार, आचार या संस्कार के कारण सामान्य पात्रों से भिन्न लगते हैं इसीलिए वे आसानी से अपनी पहचान बनाते रहते हैं।

ऐसे रूढ़ पात्र प्रायः ग्रामीण श्रोताओं के कार्यक्रमों में या बच्चों के प्रोग्राम में या महिलाओं के लिए प्रसारित कार्यक्रमों में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए हैं। उनमें अपने ढंग की रंग रेखाएँ भरकर उन पात्रों का ऐसा

सजीव इस्तेमाल अक्सर किया जा सका है जहाँ उनके माध्यम से समाज में व्यापक और गहरे परिवर्तन संभव हो सके। वे जिस परिवेश में प्रस्तुत होते हैं, वहाँ वे उस वर्ग के श्रोता के जीवन का प्रतिनिधित्व करते हैं। वे उनकी प्रवृत्तियों के प्रतीक बन जाते हैं।

एक बार इन रूढ़ पात्रों को निर्मित कर लिया गया तो उन्हें विभिन्न कथानकों में डालकर ऐसी परिस्थितियाँ दिखाई जा सकती हैं जहाँ उन रूढ़ पात्रों की अपनी मानसिक बनावट सहज सामान्य जीवन में विद्रूप पैदा कर सकती हैं। श्रोता प्रकारान्तर से उन परिस्थितियों को अपने व्यक्तित्व और सामाजिक परिवेश पर लागू करके मन ही मन बदलाव के किसी निष्कर्ष पर पहुँचता रहता है। इन परिस्थितियों के कारण अक्सर हास्यमूलक कथानक बन जाते हैं जिसमें ये रूढ़ पात्र प्रायः नायक हो जाते हैं। इन रूढ़ पात्रों की परिचित मान्यताओं का जैसा सहज प्रदर्शन किया जाता है उससे विभिन्न परिस्थितियों का विश्लेषण सम्भव हो सकता है। परिवर्तित परिस्थितियों से नया मानसिक समझौता (एडजेस्टमेन्ट) भी दिखाया जा सकता है। जिन स्थितियों को उपदेशात्मक भाषा के द्वारा समझाने का प्रयत्न किया जाता है वह उबाऊ और नीरस होकर अपने लक्ष्य में सफल नहीं होती। श्रोता उन्हें प्रचार समझकर उससे विमुख हो जाता है। परन्तु रूढ़ पात्रों के माध्यम से श्रोता की ग्राह्यशीलता बढ़ाई जा सकती है और अप्रत्यक्ष रूप से वांछनीय प्रभावों की कल्पना की जा सकती है। वे रूढ़ पात्र जो स्वयं अपने आचरण में लकीर के फकीर दिखाई देते हैं, परिस्थितियों के दबाव में फँसकर नये परिवेश से जुड़ने की आकांक्षा उनमें दिखने लगती है। सुनने वाले पर इसका गहरा प्रभाव पड़ता है। श्रोता के मन में अनेक रूढ़ संस्कार परम्परागत रूप से कहीं न कहीं घर किए हुए बैठे रहते हैं। इन रूढ़ संस्कारों को वह श्रोता उन स्टॉक करेक्टर में बराबर देखता रहता है। सहज सामाजिक परिवर्तन के प्रवाह में किसी एक मान्यता को बदलने में जहाँ वर्षों लग जाते हैं, उसी बदलाव को जब श्रोता एक नाटकीय क्षण में बदला हुआ पाता है तो उसे अपने भीतर भी विकासशील परिवर्तन की सहज सम्भावना दिखने लगती है।

ये रूढ़ पात्र बहुविधि बहुरंगी और बहुआयामी हो सकते हैं। वे अतिशय भोले-भाले सहज मूर्ख, परम्परावादी, झगड़ालू, समाजविरोधी, प्रगति विरोधी, दक़ियानूस अतिआधुनिक कुछ भी हो सकते हैं। उनकी

किस प्रवृत्ति को पकड़कर उनके माध्यम से कैसे कथानक रचने की सम्भावनाएँ बनती हैं, किन वैयक्तिक और सामाजिक परिवर्तनों के लिए हमें ऐसे पात्रों की तात्कालिक आवश्यकता महसूस होती है और वह श्रोता की मानसिकता से किस स्तर पर साक्षात्कार कर सकता है— इसका चुनाव ऐसे रूढ़ पात्रों के जन्मदाता लेखकों को ही स्वयं करना पड़ता है। पिछले दो दशकों में रेडियो के प्रसारणों में अनेक लोकप्रिय रूढ़ पात्रों की पहचान बनी है जैसे 'लोहासिंह' (पटना केन्द्र), 'बहरे बाबा' (लखनऊ केन्द्र), 'चाचा जी' (जालन्धर केन्द्र), 'संगीत मास्टर भोला शंकर' (जयपुर केन्द्र), झगड़ू महाराज' (इलाहाबाद केन्द्र), 'लाला लोटन लाल' (इलाहाबाद केन्द्र) आदि आदि। इन सभी पात्रों ने अपनी ऐसी छवि श्रोता के मन में बनायी जो उनके रूढ़ संस्कारों के साथ विकासशील स्थितियों से टकराहट होने पर विस्फोटक हो जाती हैं। श्रोता के मन में उनके लिए कभी सहानुभूति जगती है और कभी उनके कार्यकलापों से वितृष्णा होती है। दोनों ही मानवीय संवेदनाओं से श्रोता की मानसिकता निर्मित होती चलती है। वे उस पात्र को पहचानते हैं। वे सामाजिक परिस्थिति से भी परिचित हैं। अब जब इन दोनों पूर्व परिचितों का एक अपूर्व स्थिति में संघर्ष होता है तो फलस्वरूप उस नाटकीय क्षण का जन्म होता है जहाँ नये के प्रति आकर्षण बनता है।

रूढ़ पात्रों की यह परम्परा साहित्य में विशेष रूप से हास्य- व्यंग्य के साहित्य में काफ़ी पहले से प्रचलित है। पी० जी० उडहाउस के 'जीव्स' से लेकर 'चचा छक्कन के कारनामे' तक इसके रोचक प्रयोग दिखते हैं। पं० अमृत लाल नागर ने 'सेठ बांके मल' में और 'नवाबी मसनद' में स्टाक करेक्टर का मनोरम उपयोग किया है। पिछले दिनों टी० वी० प्रसारणों में भी इन स्टाक करेक्टर का उपयोग हुआ है जिसमें कार्टूनिस्ट आर० के० लक्ष्मण का 'वागले की दुनियाँ' रूढ़ पात्रों की सम्भावनाओं की अच्छी झलक देता है।

रूढ़ पात्रों को जितने सार्थक ढंग से, जितने कौशल के साथ इस्तेमाल किया जा सकेगा, रेडियो प्रसारणों की क्षमता का उतना ही विस्तार सम्भव है। अक्सर ग्रामीण क्षेत्रों के लिए प्रसारित होने वाले कार्यक्रमों के सहज श्रोता शहरी परिवेश में रहने वाले लोग होते हैं। खेती-बारी में उनकी कोई रुचि नहीं, फिर भी वे उस कार्यक्रम को लगातार सुनते हैं। इस विलक्षण आकर्षण के पीछे केवल उन रूढ़ पात्रों का ही आकर्षण रहता है जो वहाँ उपस्थित रहते हैं। यही है उनके सामर्थ्य की पहचान।

 □□

ओ० बी० : क्या है उसकी भीतरी शक्ति?

ओ० बी० रेडियो के प्रसारण तंत्र में अब एक अतिशय महत्वपूर्ण शब्द है। ओ० बी० अंग्रेजी के शब्द 'आउट साइड ब्राडकास्ट' का संक्षिप्त रूप है। इसके अर्थ ये हुए कि रेडियो के माइक्रोफोन को स्टूडियो की परिधि से बाहर ले जाकर उसके माध्यम से किसी भी प्रोग्राम का सीधे प्रसारण करना या वहाँ से रिकार्डिंग करके लाना और उसे यत्र-तत्र संशोधित करके उसे प्रसारित करना। ओ० बी० के माध्यम से श्रोता से सीधे सम्पर्क बनता है।

रेडियो के तंत्र में पहले ओ० बी० कार्यक्रमों को सम्पन्न कराना दुष्कर था। जिस प्रकार के भारी भरकम उपकरणों को बाहर ले जाना पड़ता था और जिस तरह ऊर्जा के लिए विद्युत की अनिवार्य आवश्यकता होती थी वह भारत में न तो सम्भाव्य थी, न सुलभ! सीधे प्रसारण के जोखिम भी बहुत थे और शासन यह क़तई बर्दाश्त करने को तैयार नहीं था कि उसमें कुछ भी अवांछित चला जाय। रेडियो अपने प्रसारणों की पवित्रता और विश्वसनीयता बनाए रखने के लिए आज से दो-तीन दशक पहले कृतसंकल्प था। इसलिए ओ० बी० कार्यक्रमों को अत्यन्त सीमित अवसरों के लिए रखा गया था। वे लगभग नगण्य थे। अधिकांश उनमें संगीत सम्मेलनों के कार्यक्रम हुआ करते थे—कलकत्ते का संगीत सम्मेलन, पंजाब का हरिवल्लभ मेला या कभी-कभार इलाहाबाद के संगीत सम्मेलन।

जैसे-जैसे इलेक्ट्रॉनिक्स की क्रांति हुई, ट्रांजिस्टर युग आया, रेडियो

तंत्र में ओ० बी० कार्यक्रमों की सुविधाएँ बढ़ीं। अब प्रसारण के उपकरण कहीं भी आसानी से ले जाए जा सकते थे। इन ओ० बी० कार्यक्रमों की वृद्धि दो स्तरों पर विशेष रूप से हुई—एक तो क्रिकेट के खेल की कमेन्ट्री से और दूसरे नेताओं के (विशेषतः प्रधानमंत्री के) देशव्यापी दौरों की प्रामाणिक रिपोर्ट श्रोता के लिए सुलभ कराने के यत्न से। इसके साथ ही दूसरे खेलकूद और अन्य वी० आई० पी० (अतिविशिष्ट व्यक्तियों) के दौरों और समारोहों में भाग लेने के ब्यौरों से श्रोताओं को जानकारी देने के प्रयत्न भी ओ० बी० कार्यक्रम की वृद्धि में सहायक हुए।

इन ओ० बी० कार्यक्रमों का अत्यन्त महत्वपूर्ण पक्ष भारतीय ग्रामीण परिवेश से रिकार्ड करके लाए हुए कार्यक्रमों से उभरा। ग्रामीण श्रोताओं की सीधी भागीदारी इस कार्यक्रम में आयी तो उसने स्टूडियोजन्य जड़ उपादेशात्मक वृत्ति से रेडियो तंत्र को मुक्त करके नई लहर पैदा की। श्रोताओं का आत्मविश्वास जागा। ओ० बी० कार्यक्रमों ने रेडियो की साख बढ़ाई। इस तरह के कार्यक्रम धीरे धीरे नियमित हो गये। विशिष्ट किसान मेलों, प्रदर्शनियों और विकास के प्रयत्नों को ही नहीं, गाँव में रेडियो के माइक्रोफ़ोन ने घुसकर देश की मिट्टी और संस्कृति से सीधे साक्षात्कार कराया। ज़ाहिर है कि इसमें वह पालिश की चमक नहीं थी जो स्टूडियो में माँज माँजकर पैदा की जाती है। किन्तु उसके खुरदरेपन में जो ताज़गी थी उसने तमाम श्रोताओं को आकृष्ट किया। उसमें खरा माल था, नकलीपन नहीं था। गाँव के ओ० बी० कार्यक्रमों ने देश की खांटी संस्कृति से सीधा परिचय करवाया।

यह ओ० बी० कार्यक्रमों का सिलसिला धीरे-धीरे रेडियो प्रसारण का एक महत्वपूर्ण अंग बन गया। श्रोता से सीधे जुड़ने की आकांक्षा बहुत तरह के ओ० बी० प्रसारणों को प्रोत्साहित करने लगी। सांस्कृतिक उत्सवों और मेलों की झांकियाँ दूरदराज़ के श्रोताओं के घर बैठे मिलने लगीं। यह झाँकी कुम्भ मेले की हो चाहे पुरी के रथयात्रा की हो, चाहे किसी नेता के शव यात्रा की हो, चाहे गणतंत्र दिवस या स्वतंत्रता दिवस की हो, सब कुछ इन ओ० बी० प्रोग्रामों के द्वारा श्रोता को सहज उपलब्ध हो जाता है। यह ओ० बी० कार्यक्रम की विशिष्ट शक्ति बनकर उभरी है। इस शक्ति का दुरुपयोग होना सहज सम्भव था, वह हुआ। धीरे-धीरे ऐसे तमाम कार्यक्रम इस ओ० बी० की समेट परिधि में आ गये जिनका स्तर अत्यन्त घटिया था—ऐसे आयोजनों की भरमार होने

लगी जिनमें घटिया नेताओं की जमात भरी हुई थी। ओ० बी० प्रोग्रामों के द्वारा रेडियो के माइक्रोफोन की उन आयोजनों में पहुँच धीरे-धीरे आयोजकों की हैसियत का प्रतीक बनने लगा। रेडियो के नीति निर्धारक जो बहुधा स्थानीय केन्द्र निदेशक होते हैं, इस तरह के दबावों में पड़कर इस ढंग के घासलेटी ओ० बी० प्रोग्राम करने लग जाते हैं। रेडियो का जो आभिजात्य था वह उसकी गरिमा और गम्भीरता दोनों की रक्षा करता था। ओ० बी० कार्यक्रमों ने रेडियो प्रसारण को जहाँ श्रोता तक सहज सुलभ बनाया वहीं उसको सहज प्राप्य और इसलिए सस्ता, घटिया और दूरगामी परिणामों के लिए अविश्वसनीय भी बनाया। ओ० बी० कार्यक्रम चूंकि अतिशय शक्तिवान है जो पलक झँपते अपने श्रोता को सब कुछ वांछनीय बता देने का दम्भ पालता है, इसीलिए उसका 'कवरेज' या रिकार्डिंग विवेकपूर्ण ढंग से सम्पन्न होना चाहिए। बहुधा केन्द्रों पर अब ओ० बी० कार्यक्रमों की एक अलग यूनिट ही बना दी गयी है जो सभी तरह के कार्यक्रमों को रिकार्ड किया करते हैं। जरूरी नहीं है कि उसके कार्यकर्त्ता अनुभवी और अतिरिक्त ढंग के जिम्मेदार लोग ही हों। यदि ऐसा न हुआ तो उनके द्वारा किए हुए कामों से केन्द्र की छवि स्वत: बनती या बिगड़ती है। कमोबेश यही स्थिति दिल्ली के केन्द्रीय प्रसारणों पर भी लागू है। जो बातें केन्द्र में होती हैं उन्हीं का अनुसरण निचले स्तरों पर देखा जा सकता है। विवेक का अंकुश वहीं से लगना चाहिए।

परन्तु बहुत कुछ जानते-बूझते हुए भी ओ० बी० प्रसारणों का 'कवरेज' या उनकी रिकार्डिंग राजनीतिक दबावों से अब प्रेरित रहती है। ये दबाव कार्यक्रम को बहुधा एकांगी और शासनपक्षीय बना देते हैं। यदि इनका समुचित विवेकसम्मत इस्तेमाल होता तो यह श्रोता के लिए उपयोगी और ज्ञानवर्धक भी हो सकते। ओ० बी० को रिकार्ड करने वाले लोगों का सम्बन्धित-व्यक्ति, स्थान या उस परिवेश से पूर्व परिचित होना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि वह उसी पृष्ठभूमि के आधार पर ओ० बी० के स्थल पर रिकार्डिंग करता है—और उसी तरह उसे सम्पादित करके श्रोता तक सम्प्रेषित करता है।

□□

रेडियो प्रोग्राम की योजना बद्धता या 'प्लैनिंग' क्यों ?

रेडियो प्रसारण के उत्तरोत्तर घटिया होते जाने के पीछे एक बहुत बड़ा कारण यह भी है कि अब अधिकांश कार्यक्रमों की विस्तृत पूर्व-नियोजित कल्पना अधिशासियों द्वारा नहीं की जाती। रेडियो में तिमाही कार्यक्रमों की पूर्व योजना बनाने का चलन है। इस पूर्वनियोजना में अनेक नये विचारों और भावों का संपुंजन काफी सोच-विचार के बाद एकत्र किया जाता था। तात्कालिकता को ध्यान में रखकर और उसके मात्र तात्कालिक प्रभावों का आकलन करने की जो महत्वाकांक्षा रेडियो के प्रसारण तंत्र ने अपनाई, उससे पूर्व नियोजित कार्यक्रम की प्रस्तावना बनाने का उद्देश्य ही निरर्थक होने लगा।

एक सक्षम और सार्थक कार्यक्रम को तैयार करने के लिए दो स्तरों पर काम करना पड़ता है। एक तो मेज़ पर अपने अध्ययन कक्ष में काम करना और दूसरे स्टूडियो में प्राप्तउपकरणों के सहारे उस पूर्व नियोजित कल्पना को मूर्तिमान करने का लक्ष्य प्राप्त करना। सच पूछा जाय तो अध्ययन कक्ष में मेज़ पर काम करने वाला यह अंश ही सम्पूर्ण कार्यक्रम में प्राणवत्ता पैदा करता है और सुनने वाले को रचनात्मक स्तर पर किसी कलात्मक दृष्टि का बोध कराता है। यह जितने परिश्रम के साथ तैयार किया जाएगा उस प्रोग्राम में उतना ही आकर्षण होगा। उपकरणों की सहायता रेडियो तंत्र के लिए अत्यन्त आवश्यक होते हुए भी उसकी आवश्यकता को स्थिति के अनुसार घटाया बढ़ाया-जा सकता है—जबकि विचारों की कतरब्योंत सम्भव नहीं।

अब असली प्रश्न यह उठता है कि रेडियो के कार्यक्रमों का यह पूर्व-नियोजन कल्पना पूर्ण ढंग से कैसे तैयार किया जाय ? प्रोग्राम प्रोड्यूसर को रेडियो की श्रोता-परिधि का ध्यान रखते हुए यह बात समझ लेनी चाहिये कि वह केन्द्र क्षेत्र की किन किन आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए वहाँ स्थित है। उन आकांक्षाओं का व्यापक स्तर पर ज्ञान प्राप्त करके उसके तात्कालिक खण्डों को तिमाही या चौमासी अवधि में बाँटकर सजीव करना चाहिए। दूसरी चीज़ ध्यान देने योग्य यह है कि क्षेत्र की प्रमुख आवश्यकताएं क्या हैं—उनकी पूर्ति के लिए किस तरह की सुविधाओं का संकलन और जनसहयोग के लिए शक्ति को कैसे प्रेरित करने का प्रयत्न रेडियो के द्वारा किया जा सकता है ? उपरोक्त दोनों कामों को सुचारू रूप से करने के लिए उस केन्द्र की जो श्रवणपरिधि है—उस सम्पूर्ण प्रदेश की आंचलिक संस्कृति का अंग बनती हैं—उन दोनों छोरों को बिना आमने-सामने रखे हुए और उनका बिना तालमेल बिठाए हुए उस क्षेत्र की समस्याओं से सफल ढंग से जूझने और उनकी प्रामाणिक व्याख्या करने का श्रेय रेडियो को नहीं मिल सकता। क्षेत्र की यह आंचलिक संस्कृति गहरे स्तरों पर राष्ट्रीय चेतना में परिवर्तन लाती है—इस बात को भूलना नहीं चाहिए। जाहिर है कि बराबर एक केन्द्र से दूसरे केन्द्र में तबादले पर आने जाने वाले रेडियो के कर्मचारी हर क्षेत्र की गहरी जानकारी उस छोटी अवधि में (जितने दिनों वे वहाँ रहते हैं) कर नहीं पाते। विडम्बना यह है कि जब तक वे उसका ककहरा भी सीखने लायक होते हैं, उनका तबादला दूसरे स्थानों पर हो जाता है। ऐसी स्थितियों में क्षेत्रीय विशेषज्ञों की एक सूची केन्द्रों पर उपलब्ध होनी चाहिए, जिनकी सहायता से कार्यक्रमों का सम्पूर्ण समायोजन किया जा सके। विशेष पर्वों, तीज, त्यौहारों और जयन्तियों के बारे में भी क्षेत्रीय उत्साह और आकांक्षाओं को ध्यान में रखकर ये पूर्व-नियोजन तैयार हो सकते हैं।

ऐसा नहीं है कि केन्द्रों पर विशेषज्ञों की समितियाँ नहीं हैं। बहुधा ये सलाहकार समितियाँ सभी केन्द्रों पर होती हैं। इन समितियों का गठन जिस तरह किया जाता है उसमें अधिकांश निरर्थक और भाड़े भत्ते बनाने वाले लोग ही होते हैं। कुछ तो राजनैतिक दबावों से इन समितियों के सदस्य बनते हैं। जो सदस्य अपने विषय के विशेषज्ञ समझकर उसमें शामिल किए जाते हैं, वे भी प्रायः वे लोग होते हैं जो अपने ही विषय में

गतिशील होने की प्रक्रिया बहुत पहले छोड़ चुके होते हैं। अक्सर वे सभी कार्यक्रमों के प्रशंसक और 'हाँ हुजूरी' सम्प्रदाय के लोग होते हैं। बहुत बार तो ऐसा देखा गया है कि ये विशेषज्ञ रेडियो के कार्यक्रमों को मनोयोग से सुनते ही नहीं। उनका ज्ञान बोझिल और किताबी होता है जो रेडियो के माध्यम से अभिव्यक्त होने की कला जानता ही नहीं। ऐसी विशेषज्ञ समितियों की बैठक रस्म अदायगी की तरह से हर केन्द्रों में तिमाही या छमाही होती रहती है। मैंने अपने चालीस-पैंतालिस वर्षों के प्रसारण क्षेत्र में कार्य करने के अनुभव में देखा है कि ये समितियाँ प्रोग्राम करने वालों को कोई भी ठोस दिशा निर्देश नहीं दे सकीं। वे केवल रेडियो केन्द्रों पर शोभा और सुन्दरता की वस्तु बनकर रह गयीं। इसीलिए किसी भी सही प्रोग्राम करने वाले को यदि कोई सहायता चाहिए तो उसे विशेषज्ञों की अपनी अलग सूची रखनी चाहिए और उन्हें अपने कार्यक्रमों से जोड़ना चाहिए। वही उसके सच्चे मददगार होंगे।

अनुभव से हर प्रोग्राम करने वाला धीरे-धीरे यथातथ्य विषयों से परिचित हो जाता है। उस क्षेत्र के बारे में सामान्य ज्ञान हो जाने के बाद उसे शासन तंत्र की 'विकास योजनाओं' के तहत अनेक कार्यक्रमों का समावेश भी उस पूर्व नियोजित कार्यक्रम को रूपरेखा में शामिल करना होता है। यह सारे कार्यक्रम लकीर पीटते हुए रूढ़ि बन गये हैं। कोई भी प्रबुद्ध श्रोता इन खानापूरी के कार्यक्रमों को सुनता नहीं इसीलिए जरूरी यह है कि पुरानी शराब को नयी से नयी बोतलों में बेचा जाय। अक्सर बोतल की नयी कलात्मकता शराब के घटिया होने पर भी ग्राहक को आकर्षित करती है। अतः किसी बात को कहने के लिए कैसी नयी विधा अपनाई जाती है, इस पर कार्यक्रम की रोचकता विशेष रूप से निर्भर करती है। रेडियो की विधा में काम करने वाला व्यक्ति यदि कल्पनाशील नहीं है तो उसके लिए हर कदम पर कठिनाइयाँ आ सकती हैं। यही बात क्षेत्रीय पर्वों, मेलों और उत्सवों को रेडियो के द्वारा परिलक्षित करने में भी लागू होती है। हर वर्ष होने वाले आयोजनों को, उत्सवों को रेडियो जिस तरह से प्रसारण में शामिल करता है, जिस कल्पना का सहारा लेकर वह श्रोता के मानस में उन्हीं पर्वों के नये क्षितिज खोलता है—वह श्रोता की रसानुभूति से गहरे स्तर पर साझेदारी करता है।

इस तरह के योजनाबद्ध कार्यक्रम पूरे केन्द्र में एक साथ नहीं बन

सकते। अलग-अलग विभागों के कार्यक्रम और उनकी नियोजना निम्न स्तरों पर तैयार होती है। ये कार्यक्रम तैयार करते समय स्थानीय कलाकारों की प्रतिभा और क्षमता का भी आकलन रखना और उनका उपयोग करना आवश्यक है। नयी प्रतिभाओं को शामिल करने का जोखिम भी इसी पूर्व नियोजन में शामिल रहता है। उदाहरण के लिए यदि हम ग्रामीण कार्यक्रम की पूर्व रूपरेखा तैयार करते हैं तो स्थानीय खेती-बारी और उस ग्रामीण अंचल की विशिष्टताओं को उभारने के लिए उस रूपरेखा में अवश्य फोकस करेंगे। ठीक उसी तरह से जब हम संगीत के कार्यक्रमों का पूर्व नियोजन करने लगते हैं तो संगीत में जो कुछ क्षेत्रीय रूप से उपलब्ध है उसका उपयोग तो करेंगे ही, राष्ट्रीय स्तर पर संगीत से उस स्थानीय प्रतिभा को जोड़ने की कोशिश भी करेंगे। जो नहीं है उसकी जानकारी भी देने की कोशिश करेंगे। राग, ताल और लय को आम श्रोता के लिए कैसे सुलभ किया जाय यह भी संगीत के कार्यक्रमों की पूर्वप्रस्तावना में विशेषज्ञों की सलाह से जोड़ा जा सकता है। महिलाओं के कार्यक्रम इसी प्रकार सर्वथा अलग ढंग की कल्पना दृष्टि की माँग करते हैं—ऐसी दृष्टि जो स्त्री को खाँचों में न बाँटें मनुष्य के संसार को पूर्ण बनाए। बच्चों के प्रोग्राम हों या युवाओं के या परिवार नियोजन के सभी कार्यक्रम सम्यक दृष्टि और कल्पनाशीलता की माँग करते हैं। दुर्भाग्य है कि रेडियो का प्रसारण तंत्र जितना ही यथातथ्य और आँकड़ापरक होता जा रहा है उतना ही रसहीन और कल्पना शून्य भी होने के लिए विवश है।

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है अब यह एक विषम स्थिति है कि केन्द्रों पर अनेक कार्यक्रमों की रूपरेखा न तो बनती है, न तो उस पर कोई बहस होती है और न उसके प्राथमिक सुधार में कोई पहल की जाती है। समय-समय पर गिने-चुने कलाकारों के द्वारा कुछ रागों का गायन-वादन कुछ घिसे-पिटे विषयों पर उबाऊ वार्ताएँ और वैसे ही अनाकर्षक नाटक करके रेडियो के प्रोग्राम अपने पराक्रम की इतिश्री कर लेते हैं।

वस्तुतः ये रेडियो की पूर्वनियोजना ही होती है जिससे श्रोता और प्रसारण के बीच सम्बन्धों की गहराई या उसका छिछलापन सामने आता है। यदि श्रोता की अपनी कल्पना-क्षेत्रीय रेडियो के केन्द्र से किसी भी स्तर पर पूर्ण होते हुए दिखती है तो उसका अपनापा केन्द्र से बढ़ता है।

उसे लगता है कि वह केन्द्र उसी का है—उसी के लिए खोला गया है। अन्यथा देश में चल रही बहुतेरी 'दुर्भाग्यग्रस्त' योजनाओं की तरह वह रेडियो-प्रसारण को भी अपने ऊपर थोपा हुआ मानता है। उससे उपजी वितृष्णा का कोई निस्तार नहीं।

□□

स्थानीय रेडियो का नया शिगूफ़ा

आकाशवाणी कई स्तरों पर काम करती है। एक तो उसका केन्द्रीय राष्ट्रीय कार्यक्रम है जिसे राष्ट्रीय चैनल के नाम से जाना जाता है। इसका मुख्य केन्द्र दिल्ली होता है और बाक़ी देश के दूसरे सभी केन्द्र इन कार्यक्रमों को कमोबेश अपने केन्द्रों से रिले या पुनर्प्रसारित करने के लिए बाध्य हैं। इनमें प्रायः आकाशवाणी से प्रसारित समाचारों के अतिरिक्त संगीत के कुछ अखिल भारतीय कार्यक्रम, कुछ नाटक के, कुछ वार्ताओं या परिचर्चाओं के, कुछ सामयिक विषयों को फ़ोकस करने वाले कार्य-क्रम, राष्ट्रपति या प्रधानमंत्री के संदेश यह सब राष्ट्रीय चैनल पर अनिवार्य-रिले हैं। दूसरे स्तर पर हर प्रदेश में उनकी राजधानियों में रेडियो केन्द्र हैं तथा क्षेत्रफल और प्रदेश की आवश्यकताओं को देखते हुए वहाँ अन्य रेडियो स्टेशन भी खोले गये हैं। ये स्टेशन क्षेत्रीय-प्रति-भाओं को राष्ट्रीय स्तर से जोड़ने के प्रयत्न करते रहते हैं। इनमें क्षेत्रीय-सांस्कृतिक कार्यकलाप भी उभारे जाते हैं। आकाशवाणी का एक और प्रसारण विभाग है—विदेश-सेवा-विभाग। इसमें विदेशों के लिए भारतीय जीवन संस्कृति और समाचारों का समावेश रहता है। यह विदेश-सेवा-प्रसारण विभिन्न देशों की भाषाओं में उनकी श्रवण-सुविधा के समय में निश्चित अवधि के लिए प्रसारित होते हैं। इन प्रसारणों में हमारे देश की विदेश नीतियाँ प्रमुखरूप से प्रसारण का निर्धारण करती हैं।

रेडियो की अपेक्षाकृत नई प्रसारण सेवा है विविधभारती का व्यवसायीकरण। कोई ढाई दशक पहले रेडियो सिलोन की आक्रामक

लोकप्रियता से खीझकर भारतीय प्रसारण सेवा में डाक्टर बालकृष्ण विश्वनाथ केसकर के सूचना-मंत्रित्व काल में हलके-फुल्के मनोरंजन के कार्यक्रम श्रोताओं के लिए उपलब्ध कराने की दृष्टि से विविध-भारती कार्यक्रमों की शुरुआत हुई। इसमें फिल्मी गानों के साथ-साथ अन्य छोटे नाटक, शास्त्रीय संगीत की सहज जानकारी और भारतीय संस्कृति का सम्यक परिचय देने की शुरुआती दिनों में प्रशंसनीय कोशिश हुई थी। प्रसिद्ध हिन्दी कवि पं० नरेन्द्र शर्मा और रेडियो के अन्य सुधी कार्यकर्मी इस कार्यक्रम से संयुक्त हुए। जाहिर है इन कार्यक्रमों ने रेडियो सीलोन को श्रोता के श्रवण संसार से निकालकर फेंक दिया और विविध-भारती ने अपनी जगह बना ली। देश के सभी रेडियो केन्द्रों ने इस कार्यक्रम में अपना-अपना योगदान दिया। कालान्तर में विविध-भारती का मुख्य लक्ष्य अधिक से अधिक विज्ञापन पाकर सस्ते और घटिया मनोरंजन कार्यक्रम जुटाने तक ही सीमित रह गया। आकाशवाणी की आमदनी में आश्चर्यजनक रूप से बढ़ोत्तरी हुई। इस प्रकार पहली बार आकाशवाणी सरकार का 'कमासुत पूत' बना। विज्ञापनों का यह रोग धीरे-धीरे सामान्य प्रोग्राम करने वाले देश के दूसरे प्रसारण केन्द्रों पर भी फैलने लगा। अब तो तमाम कार्यक्रमों के आगे-पीछे डिब्बाबन्द विज्ञापनों की कतार लगी रहती है जिससे आकाशवाणी विवेकशून्य ढंग से पैसा कमाती है। यह विज्ञापन जिस तरह सुने जाते हैं और इनका जैसा घातक प्रचार देश के मानस को मात्र एक उपभोक्ता-संस्कृति में उत्तरोत्तर बदल रहा है, वह देश की बुनियादी समझ को और उसके पारम्परिक मूल्यों पर लगातार प्रश्नचिन्ह लगाता जा रहा है। दूसरे इस विज्ञापन की होड़ाहोड़ी से सरकार जो अंधाधुंध पैसा कमा रही है उसका प्रसारण तंत्र के विकास में उल्लेखनीय उपयोग दिखाई नहीं पड़ता। यदि हुआ है तो सिर्फ नये रेडियो स्टेशन खोलने में और कुछ ऐसी तकनीकी सुविधाएँ, मशीनी उपकरण प्राप्त करने में हुआ जिनसे काफ़ी पैसा अवांछित ढंग से इधर-उधर गया। आकाशवाणी के पास जो केन्द्र मौजूद थे उनकी प्रसारण क्षमता का न तो विकास किया गया और न उनको क्षेत्रीय प्रतिभाएँ और सांस्कृतिक मूल्यों को विकसित करने के लिए साधन ही जुटाए गये। नये-नये केन्द्रों को खोलने के पीछे सरकारी प्रचारतंत्र और उसके मुखियाओं के प्रवचन एक ही समय में एक साथ मुल्क के दूर-दराज़ हिस्सों में बारम्बार फैला देने का 'सदुद्देश्य' था।

रेडियो का प्रसारण तंत्र इस तथ्य से अनदेखी ही करता रहा है कि प्रचार जब अपनी सीमाओं को लाँघने लगता है तो वह अपने विद्रूप को स्वयं जन्म देता है।

प्रसारण के इन स्तरों में अब प्रयोग के रूप में एक नया प्रयास सामने आ रहा है। यह है स्थानीय रेडियो स्टेशनों की कल्पना। इसका मूल संकल्प है देश के अत्यन्त छोटे क्षेत्रों में रेडियो स्टेशन के द्वारा 'उपयोगिता सेवा' प्रारम्भ की जाय और प्रसारण का सीधा सम्बन्ध उस क्षेत्र के जन-जीवन और उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति से जोड़ा जाय। अन्य रेडियो स्टेशनों से वे इस अर्थ में भिन्न होंगे कि वे सीधे अपने क्षेत्र की जरूरतों से ही जुड़ेंगे और उस क्षेत्र के प्रवक्ता होंगे। प्रसारण करने वाला और उसके श्रोता में अन्तर मिटाने की कोशिश यह स्थानीय रेडियो स्टेशन करेगा। स्थानीय अधिकारी, पुलिस, प्रौढ़ शिक्षा, स्कूल-कालेज, खेतिहर, वैज्ञानिक सभी इस मंच का फायदा उठा सकेंगे। अधिकांश कार्यक्रम क्षेत्रों से रिकार्ड करके प्रसारित किए जाएँगे। स्थानीय आयोजन, उत्सव, पर्व कार्यक्रम इस क्षेत्रीय रेडियो स्टेशन द्वारा सामने लाये जा सकेंगे। यह स्थानीय रेडियो अपने श्रोताओं के लिए सहायक दिशा-निर्देश भी दे सकेगा चाहे वह रोज़ी-रोज़गार के लिए हो, चाहे शिक्षा, आवास-निवास, कानून या पारिवारिक समस्याएँ हों— सब जगह स्थानीय रेडियो कुछ-न-कुछ मदद करने की आकांक्षा लेकर चलेगा। अभी तक यह प्रयोग छः छोटे-छोटे रेडियो केन्द्रों में शुरू किए गये हैं जो तमिलनाडु राजस्थान और महाराष्ट्र में हैं। सातवीं पंचवर्षीय योजना में इस तरह के लगभग तिहत्तर (७३) केन्द्र और खोलने का प्रस्ताव सरकार मान चुकी है।

इन स्थानीय रेडियो केन्द्रों की प्रोग्राम-प्रसारण नीति इस दृष्टि से भिन्न होगी कि वे कर्मचारियों की अदला-बदली या खर्च की जाने वाली धनराशि के घटाव-बढ़ाव में ही केन्द्रीय शासन तंत्र से अनुशासित रहेंगे। बाकी सभी मामलों में पूरी तरह 'स्वच्छन्द' होंगे। उनके प्रोग्रामों पर किसी तरह का केन्द्रीय नियन्त्रण नहीं होगा। उनके प्रोग्रामों में काफी हद तक लचीलापन होगा और वे तात्कालिक आवश्यकताओं के अनुसार अदले-बदले या घटाए-बढ़ाए जा सकेंगे। उन्हें तिमाही 'शिड्यूल' (पूर्व नियोजित कार्यक्रमों की रूपरेखा) बनाने के बजाय हर पन्द्रह दिन पर ये रूपरेखा गढ़ने का अख्तियार होगा। इस प्रकार के केन्द्र मुख्यतः अपने क्षेत्र के प्रत्येक गाँव को और उसकी समस्या को पारी-पारी से उभार

सकेंगे। इस प्रकार उस क्षेत्र की रिकार्डिंग को और ऐसे कार्यक्रमों को अधिक प्रश्रय दिया जाएगा। तब निश्चित ही यह कार्यक्रम स्थानीय बोलियों में किया जा सकेगा।

यह भी माना गया है कि ये स्थानीय रेडियो केन्द्र औरतों, बच्चों, युवा वर्ग, मजदूर, किसान और सामाजिक कार्यकर्ताओं के लिए प्रोग्राम करेगा और उस वर्ग के द्वारा किए हुए प्रोग्राम को भी प्रसारित करेगा। समाचारों के अतिरिक्त केवल राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री के भाषणों को यह रेडियो केन्द्र दिल्ली से रिले करेगा। इसके अलावा किसी दूसरे प्रोग्राम को रिले करने की अनिवार्यता उन पर लागू नहीं होगी। समान्यत: यह रेडियो केन्द्र अपने कलाकारों को जो पारिश्रमिक देगा वह सामान्य रेडियो केन्द्रों से औसत रूप में कम होंगे। बढ़ी हुई फ़ीस के लिए नज़दीकी बड़े रेडियो स्टेशन की शरण में जाना होगा। रखने के लिए ये स्थानीय रेडियो भी अपने यहाँ सलाहकार समितियाँ रख सकेंगी लेकिन उन्हें कोई पारिश्रमिक देय नहीं होगा।

कुल मिलाकर देखने से स्थानीय रेडियो केन्द्र की कल्पना किसी भी माने में अनूठी नहीं है। यह समस्त काम अब तक के सामान्य रेडियो स्टेशन कर रहे थे। वे भी इसी तरह अंचलों से ग्रामीण और मजदूरों के कार्यक्रम करते थे, स्थानीय प्रतिभाओं को सामने लाते थे और 'उपयोगी-सेवा' बनने की भी कोशिश करते थे। जहाँ दोनों तरह के केन्द्र अड़ोस-पड़ोस में होंगे—जैसा कि ज़ाहिर है होंगे ही, वहाँ उन्हीं क्रिया-कलापों की पुनरावृत्ति दिखाई देती रहेगी। रेडियो के एक उच्चाधिकारी की हल्के-फुल्के लहजे में कही हुई बात को यदि दुहराया जाय तो रेडियो से घटिया प्रोग्रामों को करने और उस पर प्रामाणिकता की मुहरबन्दी करने का एक नया रास्ता खोला जा रहा है। निश्चित ही ऐसे प्रोग्रामों से किसी भी तरह का कलात्मक प्रतिमान नहीं बन सकता और न घटिया कलाकारों को सुने जाने की विवशता श्रोता के सामने रहेगी।

जहाँ तक उपयोगिता का प्रश्न है इस बात का किसी भी सच्चे कार्यकर्ता को अब तक अहसास हो जाना चाहिए था कि देश के शासन तंत्र में रेडियो की और उसके कार्यकर्ता की कोई भी हैसियत नहीं है। अनेक महत्वपूर्ण घटनाओं में रेडियो के आम कार्यकर्त्ता को प्रसारण के लिए जो सुविधा और दर्जा दिया जाता है वह किसी से छिपा नहीं है। एक प्रवेश पत्र के लिए जिले के छोटे तबके के अफसरों तक दौड़ लगानी

पड़ती है—सुविधाओं की बात तो दरकिनार। ऐसी हालात में रेडियो का कार्यकर्त्ता (और वह भी स्थानीय रेडियो का कार्यकर्त्ता—खुदा की पनाह !) जो भी तथाकथित उपयोगी सामग्री का संचयन करके प्रसारित करेगा वह एक सरकारी बुलेटिन की अपेक्षा कोई अधिक महत्व नहीं रखेगा। उस प्रसारण की कोई साख कभी नहीं बन सकती। हाँ यह सही है कि इन तिहत्तर केन्द्रों के और बन जाने पर सरकार के मुखिया को बराबर अपने शब्दों से अपनी छवि बनाने का एक सुनहरा मौका मिलता रहेगा। ये स्थानीय रेडियो जिन समाजसेवी संगठनों को सम्बोधित करेंगे या उनमें प्रेरणा शक्ति जगाने की कोशिश करेंगे वे सब ऐसी दशा में शब्दों का पाखण्ड मात्र बनते जाएँगे। शब्द जब तक कार्य की अनिवार्य परिणति में स्वरूप ग्रहण नहीं करता तब तक वह अपना अर्थ कभी सम्प्रेषित नहीं कर सकता। स्थानीय रेडियो केन्द्र तभी प्रभावशाली हो सकते हैं जब रेडियो तंत्र सरकारी शिकंजे से मुक्त हो जाय। उसे सही-गलत कहने का विवेक और साहस हो। तभी स्थानीय रेडियो की कल्पना सार्थक हो सकती है।

हमारी सोच में कहीं यह खोट बैठा हुआ है कि गाँव का सामान्य श्रोता या रेडियो पर प्रसारण करने वाला अथवा मजदूरी करके जीने वाला अथवा स्थानीय शिक्षक या अन्य कलाकार—दिल्ली में शीर्ष पर बैठे हुए लोगों के मुकाबिले 'घटिया' और अविकसित हैं। इसलिए रेडियो का तंत्र उसी सोच से उपजे कार्यविधि से स्थानीय रेडियो की जब कल्पना करता है तो वह उनके लिए घटिया कार्यक्रमों और घटिया फ़ीस की मर्यादाएँ तय करता है। उन्हें देशव्यापी नक्शे में सामान्य स्तर पर लाने का प्रयत्न नहीं होता बल्कि शुरूआत से ही उन्हें दूसरे दर्जे का नागरिक मान लिया जाता है। जहाँ बहुत से स्तरों पर नकली वर्गीकरण को हम मिटाने की बात कहते रहते हैं वहाँ अपने कर्मों से इस तरह की सोच द्वारा दोयम दर्जे के लोगों की एक जमात को स्वीकृति देते रहते हैं जो निश्चय ही पूरी बिरादरी में निम्न स्तर के मान लिए गये हैं। स्थानीय रेडियो केन्द्र भी इसी तरह का एक दूसरे या तीसरे दर्जे का प्रसारण केन्द्र बन जाने की आकांक्षाओं से घिरा हुआ है।

□□

स्टेशन डाइरेक्टर : निरंकुश शासक या सजग सारथी

शुरू-शुरू में जब देश में रेडियो तंत्र का प्रसारण प्रारम्भ हुआ तब सभी केन्द्रों पर समझ-बूझ वाले स्टेशन डाइरेक्टर नियुक्त हुए। वे रेडियो की विधा के अच्छे जानकार थे और उनकी क्षमताएँ भी तदनुरूप थीं। जिन्हें उन पुराने स्टेशन डाइरेक्टरों की कुछ भी याद होगी वे मेरी बात का अनुमोदन करेंगे। उनके पास अपने केन्द्र को चलाने के व्यापक अधिकार थे। अपनी जाँच-परख से वे अपने केन्द्र में काम करने वाले प्रोग्राम के अधिकारियों को स्वयं ही नौकरी दे सकते थे। उन पर कोई प्रतिबन्ध न था। वे खासे निरंकुश होते हुए भी कलाकारों के प्रति विशिष्ट तमीज़दारी से पेश आते थे और जो शीर्षस्थ व्यक्ति केन्द्र पर आते, उनसे मिलना-जुलना और उनका सम्मान करना उनका विशेष दायित्व था। सामान्यतः उनके कमरे में आना-जाना प्रतिबन्धित था, उनके द्वारा किसी को विशेष रूप से बुलाये जाने पर पूरे केन्द्र में एक सनसनी मच जाती थी। इनमें कई स्टेशन डाइरेक्टर पत्रकारिता और साहित्य जगत से अपनी प्रतिभा के बल पर आये थे। कई उल्लेखनीय प्रतिभाएँ इस पद पर रही हैं।

अपने व्यापक गुणों, प्रभाव और सपाट अधिकारों के कारण किसी भी रेडियो स्टेशन का स्वरूप उसका केन्द्र निदेशक ही होता है जो उस समय (और इस समय भी) स्टेशन डाइरेक्टर के नाम से ही जाना जाता था। वे लोग जो शीर्ष पर थे अधिकांशतः उर्दू भाषा जानने वाले थे। इसी कारण अनेक केन्द्रों पर--जिनकी संख्या बहुत सीमित थी—उर्दू

बहुल प्रोग्राम ही होते थे। हिन्दी भाषा से लोग उदासीन थे। उर्दू के मुकाबिले उसे अधिक 'ग्राम्य गिरा' समझा जाता था। हिन्दी वालों ने रेडियो के इस तरह की तमाम नीतियों को लेकर बहुत दिनों तक रेडियो केन्द्रों का और उनसे आये हुए प्रोग्रामों का बहिष्कार कर रखा था। प्रसारण मंत्री केसकर के काल में जब श्री बालकृष्ण राव (आई० सी० एस०) प्रसारण विभाग के महानिदेशक और सचिव हुए तो उन्होंने सर्वप्रथम हिन्दी के बहिष्कार आन्दोलन को समाप्त कराया। हिन्दी कवि पं० सुमित्रा नन्दन पन्त रेडियो में कार्यक्रमों के सलाहकार बने। फिर वे चीफ़ प्रोड्यूसर भी हुए।

डा० केसकर के ही मंत्रित्व काल में हिन्दी के नाटककार श्री जगदीशचन्द्र माथुर (आई० सी० एस०) महानिदेशक के पद पर आये। केसकर और माथुर की जोड़ी ने रेडियो की उर्दू बहुलता को समाप्त करके उसे राष्ट्रीय धारा से जोड़ने की कोशिश की। हिन्दी के अनेक वरिष्ठ कवि और लेखक रेडियो स्टेशन के कार्यक्रमों से सीधे जुड़े। बहुतों को कार्यक्रमों का प्रोड्यूसर बनाकर अलग-अलग केन्द्रों पर नियुक्त किया गया। इससे स्टेशन डाइरेक्टरों के अधिकारों में कटौती हुई। वे मनमाने ढंग से कार्य करने के लिए अब उतने स्वतंत्र नहीं रह गये। नियुक्तियों की नियमावली बनी। अब उसी के तहत स्टेशन डाइरेक्टर केन्द्र पर सलाहकारों की सहायता से ही कुछ नियुक्तियाँ कर सकता था। उनकी सीमाएँ बाँध दी गयीं। स्वयं उनकी नियुक्तियाँ भी केन्द्रीय लोक सेवा आयोग के द्वारा की जाने लगीं। उनके भाषा ज्ञान, रचनात्मक प्रवृत्ति और देश की संस्कृति से उनकी जानकारी उनके स्टेशन डाइरेक्टर होने की अर्हताएँ बन गयीं।

जो पुराने ढर्रे के सोचने वाले स्टेशन डाइरेक्टर बने रह गये उनको इस परिवर्तन से गहरा मानसिक आघात लगा। वे नौकरी की मजबूरियों से नयी परिस्थिति में समझौते तो करने लगे लेकिन उनके मन का आक्रोश बरकरार था। अपने 'साम्राज्य' में बाहरी लोगों की इस तरह की दखलन्दाज़ी उन्हें बर्दाश्त न थी। लगभग आठ-दस वर्ष ऑल इंडिया रेडियो ने यह ज़माना देखा। इस बीच इस अवधि में दिल्ली में अनेक महत्वपूर्ण आयोजनों की शुरुआत हुई—रेडियो संगीत सम्मेलन, अखिल भारतीय नाटक, फ़ीचर तथा वार्ताओं के अखिल भारतीय कार्यक्रम हुए जिन्होंने देश के बुद्धिजीवी समाज में अपनी गहरी पहचान

बनायी। इसके अतिरिक्त रेडियो स्टेशन के अनेक केन्द्रों पर भी उसी ज़माने में अविस्मरणीय कार्यक्रमों की शुरुआत हुई। 'रेडियो सप्ताह' के कार्यक्रम केन्द्र की प्रतिष्ठा के अंग बन गये। यद्यपि यह सारे कार्यक्रम स्टेशन डाइरेक्टर के सहयोग से होते रहे किन्तु उन पर विभिन्न विभागीय प्रोड्यूसरों की छाप स्पष्ट दिखाई देती थी। केन्द्र निदेशक एक मिली-जुली टीम का कप्तान था—थोड़ा बहुत मनमुटाव होने के बावजूद भी केन्द्र की छबि उभर रही थी।

परन्तु यह सारी स्थिति बहुत दिन तक नहीं चल सकी। माथुर हटे, केसकर गये और ऐसे लोगों के हाथ में रेडियो की केन्द्र निर्धारण नीति फिर वापस आयी जो रेडियो तंत्र के पिछले दस वर्षों को अपनी ग्लानि और पराजय का 'वनवास युग' मानते थे। महानिदेशक जो आये, वे अपनी किसी नीति को लेकर नहीं वरन् जो कुछ चल रहा था उसे ढकेलकर पीछे ले जाने के लिए ही आये। नौकरी की तर्क पद्धति फिर सामने आयी और 'जी हुजूरी' का वातावरण मुखर हुआ। स्टेशन डाइरेक्टरों के अनेक अधिकारों की बहाली हुई और फिर उन्हीं का निर्देश सर्वोपरि हुआ। इस उलटफेर में ऐसे तमाम लोग उभर कर स्टेशन डाइरेक्टर हो गये जो 'जी हुजूरी' की प्रक्रिया में अपने समय में श्रेष्ठ थे। कहीं-कहीं तो वे जो स्टेनोग्राफर के पद पर मूलतः भरती हुए थे, अपने बॉस की 'कृपादृष्टि' के सहारे धीरे-धीरे उन्नति करते-करते स्टेशन डाइरेक्टर बन गये। वे ही केन्द्र की प्रसारण नीतियों के कर्ताधर्ता हो गये। इस तरह उनका 'राजपाट' फिर लौटा।

वे जो लोग अपने क्षेत्रों के विशेषज्ञ होकर आये थे—या वे जो साहित्यिक या संगीत के क्षेत्र की विशिष्ट-प्रतिभाएँ थीं वे या तो रेडियो स्टेशन छोड़कर चली गयीं या वहाँ रहते हुए भी कार्यक्रमों से निरपेक्ष या उदासीन हो गयीं। अक्सर उन्होंने स्टेशन डाइरेक्टरों के इस नये वर्ग को भी अपना मालिक मान लिया और उन्हीं के आदेश पर काम करने लगे। इस तरह जो कुछ भी अपने नये होने के आकर्षण से श्रोताओं को बाँध रहा था, वह सब पुराने ढर्रे का माल बन गया। उत्तरोत्तर बढ़ती हुई सरकारी नौकरी की सुविधाएँ बची-खुची प्रतिभा को भी खा गयीं। स्टेशन डाइरेक्टर उनकी 'कॉन्फ़ीडेन्शल रिपोर्ट' लिखकर उनकी तरक्क़ी के रास्ते खोल और बन्द कर सकता था। इसलिए वे भी उसी की 'कृपादृष्टि' के मोहताज थे।

इस तरह स्टेशन डाइरेक्टरों की निरंकुशता बढ़ी। परन्तु उनके बहुत से अधिकार दिल्ली-मुख्यालय ने अपने हाथ में कर लिए। आर्थिक प्रतिबन्ध तो थे ही उनकी **'स्वेच्छाचारिता'** को भी कम करने के कई आदेश जारी किए गये। एक दिलचस्प विसंगति यह उभरी कि अनेक नौकरशाह स्टेशन डाइरेक्टर—जो क्षेत्रीय प्रोड्यूसरों की प्रतिभा से आक्रान्त थे, उन्होंने अपने आपको नियमाचारी सरकारी नौकर की तख्ती से सहसा मुक्त घोषित कर दिया। वे तमाम कार्यक्रमों के लेखक और निदेशक बन बैठे। अपने नामों का रातों-दिन प्रचार रेडियो से करवाया। पत्रकारों को 'अनुग्रह फ़ीस' देकर अपने प्रशस्तिगान अखबारों में लिखवाये। साहित्य से लेकर नाटक तक और नाटक से लेकर संगीत 'कम्पोज़' करने के सहसा वे 'निपुणाचार्य' हो गये। ऐसे में उनसे यह पूछने वाला कोई नहीं था कि वे इस माध्यम का कितना सदुपयोग या 'दुरुपयोग' कर रहे हैं। यह बात जो यहाँ कही जा रही है उसके अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं। ये निरीह बुद्धिजीवी (?) जो स्टेशन डाइरेक्टर के पद पर रहते हुए सर्वसमर्थ कलाकार स्वयंभू रूप से बन गये थे, उस कुर्सी को छोड़ते ही अपनी वास्तविक हैसियत पर आ गये।

अक्सर यह भी हुआ है कि अनेक केन्द्रों पर इन स्टेशन डाइरेक्टरों की नियुक्ति राजनीति प्रेरित रही है। किसी विशेष सत्तादल से जुड़कर या उनके संरक्षण में ऐसे व्यक्ति पनपते हैं जिन्हें रेडियो स्टेशन का संचालन सौंपा गया। वे जो देश की राजनीति से जुड़े हुए रहे हैं उन्हें यह कभी ध्यान नहीं आया कि वे यह अस्तुरा किसी विवेकशील आदमी के हाथ में पकड़ा रहे हैं या बन्दर के हाथ में? प्रसारणों में जो घटियापन आया और जिसका स्खलन रोके नहीं रुक रहा है उसमें बहुत कुछ हाथ ऐसे ही तत्वों का है।

इसके अतिरिक्त रेडियो की कार्य नीतियों को सम्पादित करने वाले स्टेशन डाइरेक्टरों की नियुक्तियाँ उनकी प्रतिभा के बल पर न होकर अक्सर 'आरक्षण पद्धति' पर भी की जाने लगी हैं। यह संरक्षण ऐसी कुंठाओं का संघर्ष उत्पन्न करता है जिनका घटिया प्रभाव अन्ततोगत्वा प्रसारण पर पड़ता है—केन्द्र की अनुशासन परम्परा ढीली होती है और वर्ग विशेष के लोग अपनी प्रभुता का प्रदर्शन ग़लत जगहों पर करते हैं। केन्द्र निदेशक की नियुक्ति सहज 'प्रमोशन चैनल' (उन्नतिशील मार्ग) से नहीं होनी चाहिए। उपयुक्त कल्पनाशील और संवेदनशील व्यक्ति को

ही केन्द्र निदेशक का भार सौंपना चाहिए जो अपने सहयोगी 'स्टॉफ़' की कठिनाइयाँ समझकर उनके साथ कदम से कदम मिलाकर उनका सजग सारथी बन सके। निरंकुश व्यवधान बनकर न खड़ा हो। ये केन्द्र निदेशक ऐसे महत्वाकांक्षी न हों जो अपने कठिन परिश्रम करने वाले सहयोगियों को पीछे ढकेल कर उपलब्ध साधनों से केवल अपनी प्रशस्तियों का गायन करवायें। उनके पास जो भी अधिकार हो उन्हें वे अपने सहकर्मियों की सुविधा और प्रतिष्ठा के लिए उपयोग करें। अक्सर यह केन्द्र निदेशक कागज़ी कार्रवाइयों में दफ्तर के बाबुओं का मुँह देखता है और उन्हीं की सिफ़ारिशों पर अपने निर्णय लेता है। ये निर्णय दफ्तरी अन्दाज़ से प्रेरित होते हैं। रेडियो के कार्यक्रमों की तात्कालिकता बहुधा तमाम सरकारी नियमों को बलाए-ताक़ रखकर चलती है। उसकी तात्कालिक संवेदना ही रेडियो को सप्राण-माध्यम बनाता है। यदि उसे लाल फीतेशाही की फ़ाइलों में बन्द किया गया या उस रास्ते से गुज़रने की पूरी प्रक्रिया दुहरायी गयी तो हो सकता है कि रेडियो किसी घटना के अनुरूप कार्रवाई कर ही न पाये। ऐसे स्थलों पर केन्द्र निदेशक का दबंग होना और कार्यक्रम के हित में कार्रवाई करना अत्यन्त आवश्यक है। अक्सर तो उसके महत्वपूर्ण होने की पहचान ही यही है कि वह ऐसे नाजुक मौकों पर किस तरह के कदम उठाता है।

केन्द्र निदेशक ही रेडियो स्टेशन की मुख्य धुरी है। यदि यह धुरी पूर्वाग्रहग्रस्त है, दुर्बल है या अपने लक्ष्य की ओर बढ़ने में अक्षम है तो केन्द्र की कोई छवि बन ही नहीं सकती। वह देश की सम्पूर्ण सांस्कृतिक विरासत से अपने को नहीं जोड़ सकता। वह अपने केन्द्र को अपनी क्षेत्रीय प्रतिभाओं से संयुक्त करके उसे देश के सांस्कृतिक नक्शे पर अंकित नहीं करा सकता। उसे हर बात के लिए दिल्ली की ओर ताकने की और उससे आदेश लेने की बारम्बार जरूरत न महसूस हो। उसके लिए हुए निर्णय दूरगामी-परिणामों को सहज ही सोच सकें। और सहयोगियों को वह ऐसा पारिवारिक वातावरण दे सकता है जहाँ वे अपने निजी सुख-दुख को, कुटुम्ब की चिन्ताओ को, रोज़मर्रा की कठिनाइयों को भूलकर अपने कार्यक्रम में दत्तचित्त हो सकें। केन्द्र निदेशक अपने को बॉस न समझकर, पूरे परिवार का मुखिया या बड़ा भाई समझे तो वह अपने सहयोगियों से अधिक काम निकाल सकता है। उसकी ज़बानी सांत्वना और सहानुभूति अपने सहकर्मियों के साथ मिलजुल कर चलने की

आकांक्षा कार्यक्रमों को बेहतर स्तर दे सकती है। हर छोटी बात के लिए आदेश पत्र जारी न किये जायँ—इसी में उसकी कार्यशैली की सिद्धि है। गुर की बात यह है कि केन्द्र निदेशक को अपने रेडियो स्टेशन को एक विधिवतदफ्तर होने के बावजूद उसके सरकारीपन से उसे सर्वथा मुक्त रखने का वातावरण निर्मित करना चाहिए। पीछे रहने वाला कप्तान अपने टीम को आगे बढ़ाने का प्रोत्साहन कैसे देता है इसका मनोविज्ञान केन्द्र निदेशक को जल्दी से जल्दी समझ लेना चाहिए। जो इसे समझ लेते हैं वे अपनी गणना सफल स्टेशन डाइरेक्टरों में आज भी करा लेते हैं।

□□

रेडियो और कलाकारों का रचनात्मक सम्बन्ध

रेडियो प्रसारण के पूरे तंत्र को हमने दुर्भाग्यवशात् केवल प्रचार का माध्यम ही मान लिया है। उसका उपयोग अब केवल राजनीति को पुष्ट करने के लिए ही सीमित कर दिया गया है—या तो सत्ता पक्ष की वकालत या समस्त विपक्ष पर कीचड़ उछालने की रेडियो सक्रियता। बस यही उसके पराक्रम की इतिश्री है। रेडियो प्रसारण किस प्रकार देश के सम्पूर्ण सांस्कृतिक धरोहर को विरासत के रूप में ग्रहण करता है और कैसे प्रतिक्षण निर्मित होती संस्कृति का वाहक बनता है इसकी पहचान हमसे छूटती जा रही है। देश का काव्य, संगीत, नाटक—वेद, पुराण, उपनिषद तथा अन्य धर्मों के मूलग्रन्थ-वाणी, आचार-विचार, रहन-सहन नैतिकता, शिक्षा, ज्ञान-विज्ञान—यह सब और भी बहुत कुछ-रेडियो के प्रसारण तंत्र से ही देश के बहुत बड़े श्रोता वर्ग के सामने बारबार प्रस्तुत होता है और वह इसके बीच से अपना जीवन दर्शन स्वयं गढ़कर निकालता है।

इस प्रक्रिया को सम्पन्न कराने के लिए उस वर्ग की आवश्यकता होती है जिन्हें हम कलाकार कहते हैं। वे अपने माध्यम से देश की सांस्कृतिक गरिमा का प्रतिनिधित्व करते हैं—चाहे साहित्य के क्षेत्र में हो, संगीत के क्षेत्र में हो या कला और ज्ञान-विज्ञान के अन्यान्य क्षेत्रों से तत्व निकालकर वे देश की पहचान बनाते रहते हैं। इन कलाकारों के जीवंत सहयोग के बिना रेडियो प्रसारण जड़ और निर्जीव हो जायेगा। यही कलाकार प्रसारण को देश और काल दोनों की सीमाएँ लांघ कर

श्रोता को समसामयिकता से सहज ही जोड़ देते हैं। इसलिए इन कलाकारों का रेडियो की प्रसारण व्यवस्था से सीधा और गहरा सम्बन्ध बनता है।

रेडियो की व्यवस्था में काम करने वाले लोग धीरे-धीरे यह मानने लग गये हैं कि यदि वे कलाकारों से आदान प्रदान का कोई सम्पर्क नहीं रखते तो भी वे अपनी नौकरी या जीविका में सुरक्षित हैं। वे यह मानकर चलते हैं कि रेडियो स्टेशन कलाकारों के सहयोग के बिना चल सकता है। इसीलिए अक्सर वे कलाकारों के प्रति उदासीनता बरतते हैं। यह उदासीनता कहीं-कहीं तो अशिष्टता और बदतमीज़ी की सीमाएँ पार कर जाती है। कर्मचारी यह सोचते हैं कि कलाकार उनके अनुग्रह राशि पर निर्भर है और अपनी जीविका रेडियो से प्राप्त दान से चलाता है। किसी हद तक कलाकार की यह मजबूरी हो सकती है कि वह किसी अन्य संरक्षण के अभाव में रेडियो से प्राप्त एक सुनिश्चित आमदनी को अपनी जीविका का साधन माने। खासतौर से ऐसे कलाकारों की माँग उनके वृद्धावस्था में जब और भी कम हो जाती है तो उनके सामने जीने का अन्य साधन बिल्कुल ही नहीं रह जाता। ऐसी स्थिति में उन कलाकारों के प्रति जब लोग असम्मानजनक व्यवहार करते हैं तो वे भूल जाते हैं कि उस कलाकार ने देश के गौरव में अपने शिखर काल में बहुत कुछ जोड़ा था। हम उनके लिए यत्किंचित जो भी करते हैं वह कृतज्ञता-ज्ञापन तो है ही—प्रकारान्तर से सामान्य श्रोता को उनकी उपलब्धियों से परिचित भी कराते हैं।

मरणोपरान्त कलाकार का सम्मान और यशोगान करने का हमारे यहाँ ढर्रा बना हुआ है। इस कार्य में हमारे आचरण की पुष्टि की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। सब कुछ केवल शब्द का पाखण्ड होकर रह जाता है। जहाँ हम अपने कृतज्ञता ज्ञापन को अपने आचरण से जोड़ने की कोशिश करते हैं वहीं हमारी सम्पूर्ण जीवन दृष्टि और हमारी सांस्कृतिक विरासत की कसौटी सामने आती है। हमारे उत्तर प्रदेश में एक लोकोक्ति है, **'जोए न देइहै कौरा। मरे बनावैं चौरा'** अर्थात् जीवित व्यक्ति को पेट भर भोजन तो दिया नहीं—उसके मरने पर उसका स्मारक बनाकर पूजते हैं। यह लोकोक्ति रेडियो प्रसारण की कलाकारों के प्रति दृष्टि को सहज ही उजागिर करती है। उपेक्षित, अपमानित या उबाऊ व्यवहार के शिकार कलाकारों की हर केन्द्र पर अच्छी सूची बन

सकती है। इनमें अब चाहे शीर्षस्थ कलाकार न हों लेकिन मध्यम और औसत दर्जे के कलाकारों की लम्बी भीड़ है जिनको आज की रेडियो व्यवस्था से तमाम शिकायतें हैं। इन शिकायतों का सहज निराकरण हो भी नहीं सकता क्योंकि हर एक की मनचाही तुष्टि चाहकर भी नहीं की जा सकती। रेडियो व्यवस्था ने ऐसे तमाम नियम बनाए हैं जिनसे कलाकार को बिना सरकारी एहसान का एहसास कराये हुए और उसे भीतर से छोटा महसूस कराये हुए बिना, किसी तरह की सहायता नहीं दी जा सकती। पहले के रजवाड़ों के संरक्षण और वर्तमान 'वेलफ़ेयर स्टेट' के लोकतंत्रीय व्यवस्था का यह अन्तर बहुत स्पष्ट है। समाज का पैसा समाज के शीर्षस्थ कलासेवियों को वापस करने में बीच के नौकरशाही दलाल की अकारण तकलीफ इस समय देश के हर क्षेत्र में पाई जाती है। रेडियो तंत्र या टी० वी० प्रसारणों में तो इसे खुल्लम खुल्ला देखा जा सकता है।

दुर्भाग्य है कि यह उदासीनता और अशिष्टता कहीं-कहीं रेडियो केन्द्रों में उस भयावह रूप में प्रगट हो रही हैं जिसे देश की आर्थिक व्यवस्था में आजकल 'घूस' के नाम से जाना जाता है। जो वहाँ अकल्पनीय था, वह सहज ही घटित होने लगा। कलाकारों का भी ऐसा नया वर्ग तैयार हुआ जो अपने पारिश्रमिक के भुगतान के कुछ अंश कर्मचारियों की सेवा में स्वेच्छा से अर्पित करने लगे। उन कलाकारों को रेडियो प्रसारण में शामिल करने के कई चोर दरवाज़े खोल दिए गये हैं। अक्सर अविश्वसनीय ढंग से सुनाई पड़ता है कि रेडियो केन्द्रों के शीर्षस्थ व्यक्ति इस 'रैकेट' (भ्रष्टाचार मण्डल) में शामिल होते हैं। केन्द्र पर खरीद-फरोख्त के तमाम जंजालों में और व्यावसासिक मुनाफे में वहाँ के बाबू वर्ग से लेकर इंजीनियर वर्ग का एक हिस्सा शामिल रहता ही था, अब प्रकारान्तर से कार्यक्रमों और कलाकारों की व्यावसायिकता और अनुग्रह के नये पैमाने इस भ्रष्टाचार मण्डल से बन रहे हैं। वे जो इसकी जाँच-पड़ताल करने के लिए बने हैं, वे भी इसी प्रक्रिया के सजीव अंग हो गये हैं। जाँच-पड़ताल निरन्तर चलती रहती है और यथाक्रम दाखिल दफ्तर हो जाती है।

इन रास्तों से गुज़र कर कला की न तो स्वायत्तता बन पाती है और न वह सम्प्रेषित होने के अपने लक्ष्य को ही प्राप्त करती है। जिस तरह का घटिया कार्य व्यापार इन कलाकारों का प्रतिमान निर्मित करता है

वह निश्चित ही प्रसारण क्षमता को घटिया बनाता है। प्रसिद्ध लेखक बर्नाड शॉ ने एक बार कहा था कि प्रसारण कर्त्ता का सबसे बड़ा मित्र और उससे भी प्रबल शत्रु रेडियो का 'माइक्रोफ़ोन' है। वह व्यक्ति के अन्तस को उघाड़कर-नंगा करके श्रोता के सामने रख देता है। वहाँ लम्बी अवधि तक कपट, छल या पाखण्ड नहीं चल सकता। यह अक्षरश: सत्य है। वे जो अपनी ज़िम्मेदारी नहीं समझते और इस माध्यम को दूसरे दफ्तरों की तरह मानकर सिर्फ़ इसे अपनी जीविका का साधन और कभी-कभी अतिरिक्त साधन समझते हैं—वे इस माध्यम और सम्पूर्ण देश के साथ खोटा काम कर रहे हैं।

□□

रेडियो की खबरें--बासी : उबाऊ और अविश्वसनीय ?

यह आश्चर्यजनक स्थिति है कि आकाशवाणी के केन्द्र जितनी तेजी से बढ़ते जा रहे हैं, जितनी उसकी प्रसारण क्षमता फैलकर देश के सुदूर कोनों को छूने लगी है उतना ही वह घटिया कार्यक्रमों और अविश्वास की प्रतीक बनती जा रही है। इसके पीछे कार्यक्रमों का स्तर घटने का तो एक प्रमुख कारण है ही, सबसे बड़ा 'श्रेय' आकाशवाणी से प्रसारित खबरें हैं। इन खबरों की तरफ देश के सुदूर अंचलों में आतुर प्रतीक्षा रहती है क्योंकि वहाँ तक अखबारों को पहुँचने में काफ़ी वक्त लग जाता है। इसीलिए तात्कालिकता के नाम पर रेडियो की खबरों का लोग बेसब्री से इन्तजार करते हैं। यदि यह खबरें सिर्फ सरकारी प्रचार तंत्र का मुख-माध्यम बनकर रह जाती हैं और देश-विदेश के अखबार स्थितियों का एकदम विपरीत चित्र प्रस्तुत करते हों तो निश्चय ही आकाशवाणी की प्रामाणिकता को गहरी क्षति पहुँचती है।

देश की राजनीति काफी समय से सिर्फ अवसरवादी राजनीति होकर रह गयी है। सत्ताधारी वर्ग आजादी के बाद से जिस तरह प्रसारण माध्यमों पर एकाधिकार जमाकर सहज प्राप्य-प्रचार का सुख उठा रहा है, वह उनके गद्दी पर बने रहने की यथास्थिति की पुष्टि करता है। रेडियो (और अब टी० वी० की भी) खबरें सत्ता के पक्ष को बारम्बार घोषित करती रहती हैं और उसे ही 'देश के सही विकास की तस्वीर' बताती हैं। बहुधा ये खबरें सत्ताधारी दल के निजी फ़ायदे या उसी दल के मुखिया के खास फ़ायदे के लिए ही जैसे प्रसारित की जाती हों। देश

की राजनीति की भाँति यहाँ की नौकरशाही भी अवसरवादी है। उसने अपनी सुरक्षा इसी में मान रखी है कि वह सत्ताधारी राजनेता को हर कीमत पर संतुष्ट और प्रसन्न रखे। इसीलिए वह अपना शतरंज इस तरह खेलती है जिससे इस माध्यम से केवल वही जानकारियाँ प्रक्षेपित हों जो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष ढंग से केवल शासक वर्ग और उसके मुखिया की छवि बनाये रख सकें। इस प्रक्रिया में माध्यम का अविश्वसनीय और घटिया हो जाना सहज सम्भव है।

पहले के दिनों में रेडियोतंत्र में खबरों का विभाग-कार्यक्रमों के संचालन करने वालों के निर्देशन में काम करता था। केन्द्रीय महानिदेशक इसके लिए पूरी तरह जिम्मेदार थे। किन्तु कालान्तर में रेडियो का समाचार प्रभाग अलग बन गया। उसने अपने क्षेत्र में अपनी स्वायत्तता घोषित कर दी। धीरे-धीरे हुआ यह कि रेडियो के कार्यक्रम और उसी केन्द्र से प्रसारित समाचार में कोई सामंजस्य नहीं रह गया। समाचार प्रभाग में प्राय: ऐसे लोग घुस आये जो समाचारों को देश के समग्र सांस्कृतिक पुनरुत्थान और गतिशीलता को त्याज्य मानकर केवल घटिया राजनीति को अपने समूचे चिंतन का केन्द्र बिन्दु मानकर चलने लगे। उनके कार्य व्यापार की कुंजी सहज ही उन लोगों के हाथों में चली गयी जो देश में इस तरह की घटिया खबरों के आदिजनक थे। अत: इन समाचारों में कोई दृष्टि या सही पहुँच न होकर देश में जगह-जगह नेताओं के भाषणों का उद्धरण ही छा गया। बल्कि एक शब्द में यदि रेडियो का सिरनामा देना चाहें तो "उन्होंने कहा...." शीर्षक दिया जा सकता है। इसके अलावा रेडियो समाचारों की दूसरी प्राथमिकता है—दुर्घटनाएँ। इन 'दुर्घटनाओं' को बयान करने में भी वे कभी-कभी हास्यास्पद ढंग से सरकारी बयान दुहराते हैं। समाचार पत्र उसका खंडन करते हैं तब वे धीरे-धीरे अपने आँकड़ों में संशोधन करते जाते हैं। दुर्घटनाओं में दिए जाने वाले मुआवज़ों की राशि को बढ़ा-चढ़ाकर बताते हैं जो सम्बन्धित व्यक्ति को अक्सर मिलती ही नहीं। इन समाचारों की तीसरी (या जरूरत पड़ने पर पहली भी !!) प्राथमिकता विपक्षी दलों की छीछालेदर करना और उनके प्रति श्रोता में अविश्वास जगाना है। बिना समुचित प्रामाणिकता के विपक्ष पर किए हुए तमाम आरोप वे प्रसारित कर देते हैं। इसके बाद यह समाचार अपना वक्त खेलकूद का ब्यौरा बताने में लगा देते हैं। खेलकूद के ब्यौरे में काफ़ी समय लगाया

जा सकता है। क्योंकि इससे देश की अन्दरूनी राजनीति पर या सत्ताधारी दल के प्रभाव पर कोई विशेष आँच नहीं आती। मौसम की जानकारी जो पहले नितान्त अटकलपच्चू और फलतः हास्यास्पद थी वह इधर वैज्ञानिक प्रगति के कारण अधिक महत्वपूर्ण हो गयी है।

ज़ाहिर है कि समाचार प्रसारण की यह दृष्टि उबाऊ, बासी और अविश्वसनीय ही होती जाती है। आकाशवाणी की खबरें विदेशी प्रसारण सेवा की तुलना में फिसड्डी, पिछड़ी हुई, तथ्यों को तोड़ती-मरोड़ती हुई और अर्धसत्य के आसपास मँडराती है। जिन खबरों को यहाँ राजनेताओं की भृकुटि पर तौल-परखकर प्रसारण करने या न करने का निश्चय किया जाता है वह बी० बी० सी० जैसे प्रसारण माध्यमों से बहुत पहले प्रसारित हो जाती है। अतः रेडियो से खबरों की तात्कालिकता की विशेषता स्वतः समाप्त हो जाती है। इसके अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं जिसमें प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू की मृत्यु का समाचार भी है। इसी तरह दुर्घटनाओं से संबंधी आंकड़ों के उदाहरण भी गिनाए जा सकते हैं।

इस बासी लगने वाली खबर के पीछे गलत भाषा का उपयोग भी बहुत जबरदस्त भूमिका निभाता है। समाचार प्रभाग शब्दों के उच्चारण पर ध्यान नहीं देता और ऐसे समाचार वाचकों को सामने लाता है जो शब्दों को चबाते हुए बोलते हैं। पूरी मात्राएं उनके श्रीमुख से निकलती ही नहीं। विदेशों के सन्दर्भ वाले समाचार, संज्ञा और विशेषण दोनों अपनी-अपनी सही पहचान के लिए समाचार वाचकों के सामने अपनी रक्षा हेतु हाथ जोड़े खड़े रहते हैं। उनका कोई पुरसाँहाल नहीं। अगर समाचारों में अरब देशों के मुकाबले इसराइल को भला-बुरा कह दिया गया है तो फिर दोनों देशों के प्रधानमंत्रियों या शासकों के कैसे-कैसे ग़लत नामों का उच्चारण किया जा रहा है, इससे कोई मतलब नहीं। जिस प्रकार की भाषा का प्रयोग इन समाचारों के लिए किया जाता है वह देश की भाषा को समृद्ध नहीं करती वरन उसे वर्णसंकर बनाती हैं। यह वर्णसंकरता भाषा से आम आदमी का लगाव नहीं पैदा करती। रेडियो का समाचार प्रभाग भाषा की शक्ति और क्षमता से अनभिज्ञ होने के कारण उनका नासमझ इस्तेमाल करता है। इस तरह देश की राजनीतिक समझ और गहराते हुए सांस्कृतिक संकट को वृहत्तर परिवेश से जोड़ने में असमर्थ होता है। उनके कार्यकर्त्ताओं को इस तरह की कोई

शिक्षा-दीक्षा दी ही नहीं गयी कि वे देश की संस्कृति को उजागर करने वाले समाचारों का चयन कर सकें और उन्हें श्रोता की मानसिकता बनाने के लिए प्रक्षेपित करें। यह रेडियो की खबरों का महत्वपूर्ण ऋणात्मक पक्ष है जिसकी तरफ आम श्रोता का ध्यान नहीं जाता।

आकाशवाणी का समाचार प्रभाग देश-विदेश की एजेन्सियों से खबरें टेलीप्रिन्टर पर बटोरता है। रेडियो के विशिष्ट केन्द्रों पर उनके अपने संवाददाता भी हैं जो अपने क्षेत्र की खबरें भेजते रहते हैं। परन्तु इन खबरों का मूल ढाँचा वही रहता है जो समाचारों के निदेशक ने सत्ताधारी दल के अंकुश से बनाया होता है। इसमें सांस्कृतिक समाचारों का लगभग लोप रहता है। जब तक कोई आयोजन किसी नेता के द्वारा उद्घाटित या विसर्जित न हो तब तक ऐसे समारोहों का या देश में हो रहे बुद्धिजीवी सम्मेलनों का कोई ज़िक्र रेडियो का आज का अनपढ़ संवाददाता नहीं करता। वे अन्य पत्रकारों जैसी स्थानीय सुविधाएँ पाकर उत्तरोत्तर मन्दबुद्धि होते जाते हैं। इनकी दृष्टि दूर तक जाने पर 'लोकरुचि' समाचार तक भी नहीं जुटा पाती। ये स्वयं रेडियो की समाचारों की विश्वसनीयता के सबसे बड़े दुश्मन हैं। उनकी कार-गुज़ारी की कोई जाँच-पड़ताल भी नहीं होती। वे भी नेताओं के भाषणों तक अपने को सीमित रखते हैं।

यही हाल क्षेत्रीय-समाचार-बुलेटिनों का है। उसमें भी समाचार संकलन की यही प्रक्रिया रहती है। उसमें प्रधानमंत्री की जगह मुख्यमंत्री के कार्यक्रमों का बोलबाला रहता है। तमाम सरकारी कारगुज़ारियों की ऐसी ब्यौरेवार फेहरिस्त रहती है और ऐसे ढपोरशंखी वायदों की सूची गिनायी जाती है जो किसी भी स्तर पर कहीं फलीभूत नहीं होते। ये खबरें अपने ही दिए हुए आँकड़ों को कभी-कभी जिस मूर्खतापूर्ण ढंग से खंडित करती हैं उसका भी कोई रिकार्ड इनके यहाँ दर्ज नहीं होता। रेडियो की खबरें किसी घटना का निजी विश्लेषण करने का साहस नहीं कर सकतीं—दृष्टिकोण की तो बात ही अलग है। उर्दू और अंग्रेजी समाचारों के नाम पर जो कुछ प्रसारित होता है वह अक्सर भाषायी आधार पर लोगों को बाँटने की ही साज़िश जैसा लगता है। खबरों की पुनरावृत्ति से समय का दुरुपयोग तो होता ही है एक विभिन्न सम्प्रदाय की पुष्टि भी रेडियो बुलेटिनों से होती रहती हैं। देश की व्यापक राजनीति का ही यह एक हिस्सा है जो रेडियो के समाचार विभाग द्वारा

सुनने वालों पर जबरन आरोपित किया जाता है। आकाशवाणी का प्रसारण कहीं कला का आश्रय लेता है तो कहीं शिल्प का। दोनों का यह गड्डमड्ड रूप एक अधकचरे चिंतन को जन्म देता है। देश की उस मेधा को सामने लाता है जो आम जनता के विश्वासों की कसौटी पर निरन्तर खोटा उतरता है। उसके जो सबसे ज्यादा सुने जाने वाले कार्यक्रम हैं उनकी ओर वह केवल अपने तात्कालिक प्रचार तक ही सीमित दृष्टि रखता है। प्रचार भी कला है। प्रचार होते हुए भी वह प्रचार जैसा न लगे और लम्बी अवधि के लिए श्रोता की आस्था को पुष्ट करे—ऐसा लक्ष्य इस कला का भी होना चाहिए। रेडियो की खबरें अपने ही जाल में फँसकर रह गयी हैं। उनसे उबरना मुश्किल है। सत्तावर्ग उसे उबरने नहीं देगा। अपनी खोयी हुई विश्वसनीयता को पाने के लिए देश के सम्पूर्ण सांस्कृतिक पुनर्जागरण को रेडियो की खबरों में यदि समुचित स्थान मिलने लगे तो शायद झूठी और घटिया राजनीति की धुंध कुछ कम हो जाय। सांस्कृतिक जगत की खबरें—सम्भवतः सत्ता के लिए तात्कालिक खतरे नहीं पैदा करतीं।

□□

रेडियो की चाकरी !
'हाँ करी कि ना करी'

शब्द और स्वर के माध्यम का यह योग ऐसा चित्ताकर्षक है कि कलाप्रेमी नवयुवक इस ओर बहुधा आकर्षित होता है। उसके लिए रेडियोतंत्र में कोई नौकरी पा लेना जीवन का लक्ष्य बन जाता है। वे अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम रेडियो को मान बैठते हैं। अजब नहीं है कि विश्व के प्रसिद्ध प्रसारणतंत्र की व्यवस्थाओं से अनेक विख्यात साहित्यकार और संगीत सेवी अपनी आजीविका के लिए बहुत दिनों तक जुड़े रहे हैं। वे नाम अपने समय के विशिष्ट कोटि वाले कलाकारों के रहे हैं। हमारे देश में भी अनेक कलाकारों ने रेडियो की नौकरियाँ स्वीकार कीं। ऐसे लोग उसमें सफलता के साथ चल सके जो अपने लेखन धर्म या संगीत साधना को आजीविका से अलग रखने का विवेक कर सके। वस्तुतः आज नौकरी की जो शर्तें हैं—उसकी अपनी जो तर्क-सरणि है उसमें कलाधर्म का निर्वाह कठिन ही नहीं—असम्भव है।

वे जो रचनात्मक कलाकार हैं—खासतौर से वे जो लेखक भी हैं उनके लिए आजीविका के सरकारी साधन कहाँ तक सहायक हैं और कहाँ तक बाधक—इस पर इंग्लैण्ड की एक बहुर्चचित पत्रिका 'होराइज़न' ने १६७६ में कुछ प्रश्न और उनके सटीक उत्तर कतिपय महत्वपूर्ण लेखकों से लेकर छापे थे जिनमें रोज़ मेकॉले, जार्ज आर्वेल, हर्बर्ट रीड, डाइलन टॉमस आदि अनेक प्रसिद्ध लेखकों के उत्तर भी थे। सब यह कमोबेश मानते हैं कि लेखक को आजीविका के लिए कोई न कोई काम करना ही पड़ेगा जहाँ थोपे हुए घटिया कामों से किसी स्तर पर मुक्ति पाना भी

आवश्यक है। राज्य द्वारा लेखक की सहायता को सभी रचनाकार शंका की दृष्टि से ही देखते हैं। सहायता के खतरों से आगाह रहने वाले रचनाकारों को ही रेडियो की नौकरियाँ लेनी चाहिए और जितनी जल्दी से जल्दी हो सके उससे छुटकारा ले लेना चाहिए। संगीत के क्षेत्र के लोग भी रेडियो तंत्र में इसी तरह आते-जाते रहे। अब तो व्यवस्था ऐसी हो गयी है कि इस रेडियो तंत्र में सभी मुस्तकिल-किसिम के कर्मचारी हो गये हैं। वे अपनी आजीविका और रचनात्मक लक्ष्य को गड्डमगड्ड करके अपनी किसी कदर की-कलात्मक प्रतिभा को उत्तरोत्तर लालफीताशाही वाली फाइलों में विसर्जित कर देते हैं। उनकी सर्जनात्मक प्रतिभा का ह्रास हो जाता है। कोई भी 'धन्धा' अपनी इसी गति को पहुँचता है। यहाँ तो सम्पूर्ण प्रतिभा नौकरी के माध्यम से तबादलों और तरक्कियों में ही सीमित हो जाती है।

वे जो किसी अन्य नौकरी की तरह रेडियोतंत्र की भी नौकरी में घुस आये हैं - उनको वहाँ लाने वालों ने उनकी प्रतिभा और इस विधा के साथ अन्याय किया है। उन्हें प्रसारण तंत्र की शक्ति का अहसास नहीं होता। अगर कहीं होता भी है तो उस तंत्र की तुलना तहसीलदारी, पटवारीगीरी, थानेदारी, कलेक्टरी या इंजीनियरी के तबकों में फैली हुई सत्ता का अधिकार सुख उठाने वाली शक्ति के समानान्तर होता है। जहाँ उनको वह नहीं मिलता वहाँ वे अपनी हीनता महसूस करते हैं और रेडियो के तंत्र में 'फंस जाने का' रोना रोते रहते हैं। आँकड़ों से पता चलता है कि देश की दूसरे और तीसरे दर्जे की प्रतिभाएँ ही रेडियो के प्रसारण तंत्र की नौकरियों में आयी हैं। अक्सर वे दूसरे क्षेत्रों की पिटी हुई या तिरस्कृत 'प्रतिभाएँ' भी रही हैं। इसीलिए उनकी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति भी रेडियोतंत्र के माध्यम से अवसर नहीं हो पाती हैं—यद्यपि रेडियो व्यवस्था ने औव्वल दर्जे की प्रतिभाओं को इसमें आकर्षित करने के लिए इस सेवा को 'इण्डियन ब्राडकास्टिंग सर्विस' के नाम से अभिहित किया था।

वे जिनकी आधारभूत संस्कारी शिक्षा हुई है, वे जो कला माध्यम की शक्ति से परिचित हैं, वे जो अपनी बात को सही ढंग से दूसरों तक सम्प्रेषित कर पाते हैं, और वे जो अन्य नौकरियों की तुलना में स्वेच्छा से रेडियो तंत्र की तमाम सीमाओं को समझते हुए इस व्यवस्था का अंग

बनना ही चाहते हैं, उनके लिए इस तंत्र की कुछ प्राथमिक जानकारी आवश्यक है।

एक तो यह कि उन्हें अपने देश की संस्कृति का गहन सम्यक ज्ञान होना चाहिए जो किताबी न होकर उन्हें आचरण में साक्षात्कार कराता हो।

उन्हें अपनी राष्ट्रभाषा और मातृभाषा का ऐसा ज्ञान हो जहाँ वे स्थिति के अनुकूल शब्दों का चयन करने में समर्थ हों। वे जो संगीत आदि के कार्यक्रम भी करते हों, उन्हें भी भाषा की यह जानकारी किसी स्तर पर रेडियो तंत्र में नौकरी करने के लिए अनिवार्य है। इसका उपयोग धीरे-धीरे ही समझ में आता है—जब रचना और फ़ाइल की आपसी टकराहट होती है।

उन्हें एक तरह का 'पीर बवर्ची भिश्ती खर' होना अनिवार्य है—अर्थात वे ही नियामक हैं, वे ही उसे बनाने वाले और परोसने वाले हैं, वे ही मनोनुकूल पृष्ठभूमि तैयार करने वाले हैं और वे ही उस सम्पूर्ण बोझ को वहन करने वाले भी हैं। वह कार्यकर्त्ता जो सब कुछ अकेले ही कर सकने का गुमान नहीं रखता, सामर्थ्य अर्जित नहीं करता वह इस पूरे तंत्र में धीरे धीरे हाशिए पर चला जाता है। अक्सर वह एक निकम्मा अफसर तो हो जाता है लेकिन कार्यक्रम का सफल प्रोड्यूसर कभी नहीं बन पाता।

सबसे बड़ा गुण उसमें सौहार्द का होना है जिसके ज़रिए वह बाहरी कलाकारों और भीतरी सहकर्मियों से अपना काम मिनटों में करा लेता है। उसे अपनी बात मनवाने की कला आती है। भारत के प्रथम प्रधान मंत्री पंडित जवाहर लाल नेहरू के एक प्रसारण में जब एक रेडियो कार्यकर्त्ता ने अपनी मृदुशैली में कुछ जोड़ने और कुछ निकालने के लिए उनसे आग्रह किया तो पंडित जी ने उसकी बात हँसते हुए मान ली और टिप्पणी की कि, 'तुम लोगों को तो देश की कूटनीतिक सेवा में होना चाहिए।' इसीलिए रेडियो का अच्छा कार्यकर्त्ता बिना अपनी बात को थोपे जाने का आभास दिए हुए—किसी भी अभ्यागत कलाकार से अपनी बात इसी तरह मनवा लेता है जैसे कि वह प्रसारणकर्त्ता की बनने वाली छवि का एक अनिवार्य अंग हो। यह कला दुःसाध्य तो है ही और विरले कर्मचारियों को ही अभ्यास से आती है। यह मनुष्य की आन्तरिक

प्रकृति, उसके संस्कार और दिमाग़ी सन्तुलन से क्रमशः विकसित होती है।

अपने सहयोगियों के साथ अच्छे से अच्छा सम्बन्ध रखते हुए भी उसमें अतिरिक्त आसक्ति न रखने से अनेक जंजालों से मुक्ति मिलती रहती है। जब तक केन्द्र निदेशक घोषित रूप से दुराचारी, भ्रष्टाचारी और निकम्मा न हो तब तक उसके विरुद्ध जेहाद चलाने का कोई अर्थ नहीं रहता। अपनी बात को जो लोग तर्क पूर्ण ढंग से कहने की कला जानते हैं वे भावावेश को सरकारी कार्यव्यवस्था में नहीं घुसने देते। समय पर गलत कदमों के प्रति सहज संवेदनशील संयत वाणी में आगाह कर देना—बस यहीं तक एक सक्षम कर्मचारी का उद्देश्य होना चाहिए।

रेडियो में काम करते हुए ठस, जड़ या उत्तरोत्तर कुन्द और मन्द-बुद्धि होने की प्रक्रिया से प्रयत्न करके बचना ही चाहिए—अपने विषय का तो विशेष अध्ययन करना ही चाहिए उसमें हुई नई-नई जानकारियों का संग्रह और उनके प्रयोग भी मालूम होने चाहिए। साथ ही अन्य अनुशासनों में कितना महत्वपूर्ण काम हो रहा है उसके बारे में भी गहरी अभिरुचि रखना वांछनीय होता है। संगीत के आदमी को नाटक में, काव्य में, कहानी में क्या कुछ नया हो रहा है इसकी जानकारी उसी तरह रखनी चाहिए जैसे अन्य विधाओं में लगे हुए लोगों के लिए संगीत के क्षेत्र की विस्तृत जानकारियाँ जरूरी हैं।

पहले वक्तों में रेडियो स्टेशनों की 'लाइब्रेरियाँ' अत्यन्त समृद्ध हुआ करतीं थीं। नई से नई पुस्तकें वहाँ मौजूद रहती थीं—हर क्षेत्र की पुस्तकें। इसके अलावा ढेरों पत्र-पत्रिकाएँ उपलब्ध रहती थीं—देशी भी विदेशी भी। रिकार्डों की संख्या अनन्त थी। ऐसा माना जाता था कि खाली समय में रेडियो के प्रोग्राम करने वाले और इंजीनियर इस लाइब्रेरी से पुस्तकें लेकर पढ़ेंगे और अपना ज्ञान संवर्धन करेंगे। जहाँ तक मुझे याद है पहले के स्टेशन डाइरेक्टर कर्मचारियों की सालाना रिपोर्ट लिखते समय लाइब्रेरी के रजिस्टर मँगवाकर देखा करते थे कि किसने क्या और कितना पढ़ा है—पिछले वर्ष से इस वर्ष तक उसने अपने ज्ञान में क्या जोड़ा है? रेडियोतंत्र को वह कैसे अधिक सम्पन्न करने की स्थिति में अपने को बना रहा है? परन्तु यह सब तो गुज़रे जमाने की बातें हो गयीं। अब तरक्की के पैमाने बदल गये हैं। चाटुकार और खुशामदी तथा घटिया प्रतिभा (?) वाले लोग केन्द्र निदेशक की

सलाहकार समिति बनाते हैं और तरह-तरह की पदवृद्धि और अनुग्रह पाते रहते हैं। कहते हैं जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है—इसी तरह जो दिल्ली में चलता है, वही सभी केन्द्रों में व्याप्त है। रेडियो प्रसारण तंत्र को गंभीरता से अपने जीवन की अभिव्यक्ति का माध्यम मानने वाला रेडियो का रचनाधर्मी (यहाँ मैं 'रचनाधर्मी' को व्यापक स्तर पर सम्बोधित कर रहा हूँ।) इस तर्क पद्धति से अपने को बराबर मुक्त करता रहता है। अपनी महत्वाकांक्षाओं के 'चैनल' वह स्वयं निश्चित करता है।

अब तो प्रसारण की इस व्यवस्था में जाने के लिए विभिन्न प्रकार के सेवा-आयोगों से गुजरना पड़ता है। वहाँ चुनाव की अपनी प्रक्रिया चलती है। वे लोग जिस तरह का चुनाव कर रहे हैं उसके लक्षण भी अच्छे नहीं और न उसके सद्परिणाम ही सामने आये। उन्होंने सम्पूर्ण प्रसारण तंत्र को उन्हीं श्रृंखलाओं में बाँध दिया जिनमें बाबू वर्ग से लेकर अफ़सरी के ज़ोम में सरकारी नौकर झूमता रहता है। वह उसे भी एक सामान्य आजीविका का तंत्र मानता है। वह केवल अपनी नौकरी की सुरक्षा और बढ़ते हुए मँहगाई-भत्ते तक ही अपने को सीमित रखता है। इस विसंगति से इतना सशक्त माध्यम कैसे मुक्त होगा—इसकी खैर तो सिर्फ अल्लाह से ही मनायी जा सकती है।

□ □

टिप्पणियाँ

□

विदेश प्रसारण सेवा

देश में रेडियो सुनने वालों को यह कम ही पता होगा कि आकाशवाणी एक विदेश प्रसारण सेवा भी निरन्तर देशी सेवा की ही भाँति चलाती रहती है। इस प्रसारण सेवा का मुख्य उद्देश्य समकालीन विश्व की समस्याओं पर भारतीय दृष्टिकोण को उजागर करना होता है। साथ ही इन प्रसारणों से दूसरे देशों के साथ मैत्री सम्बन्ध बढ़ाना, भारतीय संस्कृति और उसकी महान परम्पराओं से सारे संसार को क्रमशः अवगत कराना और इस देश के विकास की अनेक दिशाओं से परिचित कराना भी इस सेवा का लक्ष्य होता है। इस तरह की प्रसारण सेवा लगभग हर विकसित देश के पास मौजूद है। इन सेवाओं के ज़रिए दूसरे देश पूरे संसार की गतिविधियों पर अपनी टिप्पणी करते हैं और अपने देश के हितों के अनुरूप समाचारों की पृष्ठभूमि के साथ उसकी व्याख्या भी करते हैं।

भारतीय प्रसारण सेवा प्रतिदिन अलग-अलग भाषाओं में लगभग ६० घंटे के आस-पास प्रसारित होती है। इसमें चीनी, नैपाली, बर्मी, तिब्बती, सिंहली, अंग्रेजी, पश्तो तथा फारसी आदि में निरंतर कार्यक्रम होते रहते हैं। इसके अलावा भारतीय भाषाओं में भी लगभग छब्बीस घंटे का प्रोग्राम होता है इसी की एक उर्दू सर्विस भी होती है। बंगाली, पंजाबी और सिन्धी में तो प्रवासी भारतीयों के लिए प्रोग्राम किए ही जाते हैं। इसी तरह अफ्रीका, दक्षिणी पूर्वी एशिया, पाकिस्तान आदि के लिए भी कार्यक्रम संयोजित होते हैं।

सुनने में जितना सहज लगता है, यह कार्यक्रम उतना ही जटिल और दुरूह होता है। जाहिर है इसमें अनेक भाषाओं के कुशल शिल्पी अलग-अलग क्षेत्रों में काम करते हैं। वे अपने ढंग से भारतीय छवि विश्व पटल पर अंकित करने का महत् प्रयास करते रहते हैं। इस कार्य को करने के लिए आकाशवाणी के उन सभी माध्यमों का उपयोग ये शिल्पी करते हैं जिसका उल्लेख हमने इस पुस्तक में किया है।

इसीलिए यह कार्यक्रम अपने एक मिले-जुले रूप में प्रस्तुत होते हैं। इन कार्यक्रमों का मुख्य 'फ़ोकस' आकाशवाणी के समाचार होते हैं। इन्हीं समाचारों के साथ सम-सामयिक घटनाओं पर विविध व्याख्याएँ भी प्रसारित की जाती हैं। इन व्याख्याओं की पुष्टि के लिए भारतीय समाचार पत्रों से भी विशिष्ट कतरनें प्रसारित की जाती हैं। इन कार्यक्रमों में भारतीय जन जीवन की सामान्य झाँकियाँ, आर्थिक और राजनैतिक चिन्तन, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक धरोहरों की चर्चा, भारत की विभिन्न परम्पराओं का सामान्य परिचय सभी कुछ सम्मिलित होता है। इसके अतिरिक्त इन कार्यक्रमों में आधुनिक फिल्मी गीतों से लेकर उच्च-कोटि के मानक शास्त्रीय संगीत और लोकगीत भी विदेशों में भारतीय प्रसारण सुनने वालों के लिए प्रसारित किए जाते हैं। विभिन्न क्षेत्रों की मूर्धन्य प्रतिभाओं से भी अक्सर चर्चाएँ और भेंटवार्ताएँ भी इसी प्रोग्राम में शामिल होती हैं। इस प्रकार यह विदेश प्रसारण सेवा प्रवासी भारतीयों और भारतीय प्रगति में भारतीय जीवन दर्शन और उसके उच्चतम मूल्यों के प्रति अभिरुचि और आस्था रखने वालों के साथ भारत का संलाप जैसा लगता है।

अपने राजनीतिक रेखांकनों के कारण यह कार्यक्रम बड़ा ही नाज़ुक और संवेदनशील माना गया है। जिन अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में विभिन्न देशों की भूमिकाओं की चर्चा अक्सर इसमें उठती है वे उन पर अपनी तीखी प्रतिक्रिया भी कभी-कभी व्यक्त करते हैं। मित्र देशों के साथ प्रसारण में कैसा बर्ताव किया जाय इसके प्रतिमान समय-समय पर राजनैतिक दबावों के कारण बदलते रहते हैं। इन बदलावों की सही जानकारी और उसे कार्यक्रमों में कलात्मक ढंग से अनुस्यूत कर देना एक विशिष्ट समझ और कौशल की माँग करता है। यद्यपि देश के सामान्य रेडियो केन्द्रों पर काम करने वाले कर्मचारी ही इन प्रसारण सेवाओं में अदला-बदली करके लिए जाते हैं परन्तु उनकी कोई विशिष्ट राजनैतिक

या सांस्कृतिक समझ अलग ढंग से शिक्षित की गयी हो इसका कोई विशेष प्रयास नहीं होता। इसके अभाव में हम अपने देश की किस छवि को अधिक मुखरित करना चाहते हैं—उस छवि या उन मूल्यों के समानार्थी सहयोगियों से हम कैसे और कितनी दूर तक अपना तालमेल बिठा सकते हैं इसके बारे में विशेष दीक्षा की आवश्यकता होती है। केवल नीतियों की गश्ती चिट्ठियों के आधार पर देश की हजारों साल की महान परम्पराओं को न तो तोड़ा-मरोड़ा जा सकता है और न उन्हें दूसरा जामा ही पहनाया जा सकता है। इसलिए भी विदेश प्रसारण सेवा में देश के कुछ मूर्धन्य विद्वानों की एक उच्च स्तरीय सलाहकार परिषद होना जरूरी है जो सत्ता, संस्कृति, राजनीतिक और विकास को एक समन्वित, इतिहाससम्मत प्रामाणिक दृष्टि दे सके।

विदेश प्रसारण सेवा के दृष्टिकोण के दूरगामी परिणाम हो सकते हैं। जिन्हें इस देश की मिट्टी से प्यार है उनके लिए ये प्रसारण सेवाएँ विकृत मनोभूमि के कारण विकार भी पैदा कर सकती हैं। जो इस देश को केवल अपने स्वार्थ पूर्ति के लिए हर तरह से इस्तेमाल करना चाहते हैं उनके लिए इस प्रसारण सेवा से मिलने वाली सामग्री बड़े काम की होती है। इससे भी बचने के लिए कुशल प्रसारण कार्यकर्ता की आवश्यकता होती है। जो इस सेवा में हैं वे एक विशिष्ट कार्य में लगे हुए हैं।

□□

मेलविल डी मेलो : कुछ यादें

मेलविल डी मेलो (७३) यदि किसी और क्षेत्र में रहे होते तो ईश्वर-प्रदत्त अपनी गूंज भरी आवाज, कल्पनाशील समझ, आकर्षक व्यक्तित्व और अपने अतिशय मिलनसार स्वभाव के कारण देश के शिखर कलाकार कोटि में होते। परन्तु दुर्भाग्य से वे अपने यशस्वी जीवन का बहुत बड़ा हिस्सा ऑल इण्डिया रेडियो (बाद में आकाशवाणी) में गुजार कर संतुष्ट हो गये। ऑल इण्डिया रेडियो का यह चलन रहा है कि अपने यहाँ काम करने वाले किसी कलाकार के व्यक्तित्व को उभरने नहीं देता। उस कलाकार को एक गुमनामी जिन्दगी—एक मशीनी पुर्जे की तरह होकर बितानी पड़ती है। वह उसी में मर खप जाता है। जब तक वह आकाशवाणी छोड़कर बाहर न चला जाय तब तक उसकी प्रतिभा के गुण ग्राहक भी सामने नहीं आते। रेडियो का सरकारी अमला उन्हें उभरने नहीं देता। ऐसा तमाम कलाकारों के साथ हुआ है जिनकी स्वयं आकाशवाणी के पास ही एक अच्छी फ़ेहरिस्त होगी। मेलविल डी मेलो इस आम चलन और परिपाटी के अपवाद थे।

उनकी आवाज़, उनकी प्रतिभा, उनका दबंग व्यक्तित्व और ऊपर से अंग्रेजी बोलने और अंग्रेजी के प्रोग्राम करने का ऐसा उनका माहौल बन गया था कि जिससे रेडियो स्टेशन का सरकारी अमला उनसे कुछ घबड़ाया हुआ सा रहता था। वे अंग्रेजी के बहुत अच्छे कमेन्टेटर थे। उन्होंने अपनी कमेन्ट्री की कला स्वयं विकसित की थी। उनकी कमेन्ट्री न तो बी० बी० सी० वालों की नकल दिखती थी और न 'वॉयस आफ

अमेरिका' के कमेन्ट्री करने वालों की ही। उनकी धारा प्रवाहिता में एक ऐसा खास खटका था जो भारतीय मानस को बार-बार छू लेता था। इसी प्राणबिन्दु को पकड़ने के लिए वे किसी भी स्थान-विषय या व्यक्ति विशेष पर कमेन्ट्री करने के लिए उसके तमाम भारतीय सन्दर्भ खोजते थे। सम्बन्धित लोगों से मिलकर छोटी-छोटी जानकारियाँ भी हासिल करते थे। ऐसी जानकारियाँ भी उनके पास होतीं जो अक्सर स्वयं स्थानीय लोगों को भी पता नहीं होती थी। ज़रूरी नहीं था कि वे अपनी कमेन्ट्री में उन सारी जानकारियों का संग्रह जबरन थोप ही दें लेकिन जानकारियों के वे छोटे-छोटे टुकड़े उनकी कमेन्ट्री में प्राणवत्ता तो भरते ही थे उनकी वाणी को प्रामाणिक भी बनाते थे। छोटी सी घंटे आध घंटे की कमेन्ट्री के लिए वे हफ्तों उसके सम्बन्ध में जानकारियाँ बटोरा करते। परिश्रम—कठिन परिश्रम—ही उनकी सफलता का रहस्य था।

मेलविल डी मेलो से मेरा परिचय आकाशवाणी इलाहाबाद केन्द्र के माध्यम से ही हुआ। उनसे कई बार भेंट हुई। दुर्भाग्य से इस देश का जब जब कोई यशस्वी नेता दिवंगत हुआ, उसकी अस्थियाँ गंगा-यमुना के संगम इलाहाबाद में ही विसर्जित हुईं। ज़ाहिर था कि हर बार दिल्ली से मेलविल डी मेलो इस गम्भीर अवसर पर अंग्रेजी में कमेन्ट्री करने के लिए इलाहाबाद आते रहे। उनके साथ बराबर हिन्दी में रनिंग कमेन्ट्री करने का अवसर मुझे मिलता रहा। दिवंगत उपप्रधान मंत्री सरदार पटेल से लेकर स्वर्गीया इंदिरा गाँधी की अस्थि-यात्रा में मुझे बराबर राष्ट्रीय चैनल पर रनिंग कमेन्ट्री का इत्तिफाक़ हुआ। इसमें अधिकांशतः मेलविल डी मेलो भी रहते थे। उनकी कार्य पद्धति और मेहनत का अंदाज़ मुझे उन्हीं दिनों मिला।

स्व० सरदार पटेल की अस्थि विसर्जन के समय सारे देश से रनिंग कमेन्ट्री के रिले का बड़ा व्यापक प्रबन्ध था। लगभग पूरे इलाहाबाद शहर से होकर जुलूस गुज़रने वाला था। हिन्दी साहित्य की अनेक विभूतियाँ कमेन्ट्री करने के लिए एकत्र थीं—सर्वश्री भगवतीचरण वर्मा नरेन्द्र शर्मा, अमृतलाल नागर प्रभृति लोग तो थे ही और भी बहुत से मान्य लेखक शामिल थे। अंग्रेजी के भी माने-जाने लोग इस कमेन्ट्री के लिए बुलाये गये थे। कमेन्ट्री की विधा अपने आप में ही रेडियो के लिए सर्वथा नई थी और सीधा बेरोक टोक प्रसारण होने के कारण जोखम से भरी हुई भी थी। उस समय मेलविल डी मेलो ने कमेन्ट्री के पूर्व सबको

जिस तरह बिठाकर क्लासरूम के शिक्षक की तरह—'क्या करो और क्या न करो' सिखाया-समझाया था वह गुरु की दी हुई असली संवेदनाओं और प्रतिक्रियाओं को श्रोताओं तक सीधे ले जाने की ज्ञान गठरी थी—कहाँ सामने का जुलूस वर्णित करना है, कहाँ स्थानीयता से उसके इतिहास से देश के नेतृत्व को जोड़ना है, कहाँ अनियंत्रित भीड़ को अनदेखा कर जाना है, कहाँ आँखों से काम लेना है और कहाँ कान से काम लेना है, कहाँ श्रोता को तटस्थ भाव के दिवंगत नेता का जीवनचरित बखानना है और कहाँ देश की विशिष्ट विभूतियाँ जो शवयात्रा में शामिल हैं उनकी सूक्ष्म जानकारी पहुँचा देना है, यह सब मेलविल डी मेलो ने किताबी ज्ञान से नहीं अपने सूक्ष्म अनुभव से विकसित किया था। इसी क्रम को वे हर रनिंग कमेन्ट्री के पहले अपने सहयोगियों से दुहराते और रेखांकित करते।

कई दिन तक लगातार डी मेलो का सम्पर्क तब मिला जब उन्होंने दिल्ली में स्टाफ ट्रेनिंग स्कूल में रनिंग कमेन्ट्री करने वालों का एक ट्रेनिंग कोर्स आयोजित किया। इसमें देश भर से कोई पन्द्रह-बीस लोग शामिल हुए। रोज़ वे क्लास लेते और हम लोगों से अभ्यास की कोई प्रक्रिया भी करवाते। पहले दिन ही उन्होंने देश भर से आये लोगों से उनके क्षेत्र की कोई ऐसी विशेषता पूछी जिस पर रनिंग कमेन्ट्री हो सकती हो या उसकी संभावना हो। लोगों ने उत्तर से दक्षिण, पूरब से पश्चिम पूरे देश के मेले-ठेले-पर्व और त्यौहारों की सूची गिनायी। मेरी बारी आयी और उन्होंने मेरे क्षेत्र की विशेषता पूछी तो मैंने छूटते ही कहा—'अस्थि विसर्जन !!' मेलविल डी मेलो और मेरे अन्य सहयोगी मुस्कराये मैंने जोड़ा—"और सर कुम्भ मेला भी।" डी मेलो ने मुझसे कहा, "तब आप इन्हीं दोनों चीजों में विशेष योग्यता प्राप्त कीजिए।" हालात भी ऐसे बने कि मुझे इन्हीं दोनों विषयों पर ही रेडियो में अधिकांश कमेन्ट्री करनी पड़ी।

जैसा मैंने कहा, डी मेलो कई बार इलाहाबाद आये। एक बार वे तब आये जब वे गंगा पर अपना बहुचर्चित कार्यक्रम तैयार कर रहे थे। उन्हें मेरे केन्द्र पर पता चला कि मैं गंगा की कथा पर उसके उद्गम से लेकर प्रयाग तक की यात्रा पर एक कार्यक्रम पहले ही बना चुका हूँ। "जय जन गंगा" शीर्षक से बनाये हुए मेरे इस कार्यक्रम का आलेख प्रसिद्ध लेखक (अब दिवंगत) श्री विजयदेव नारायण साही ने तैयार किया था और मेरे विशेष सहायक थे कथाकार कमलेश्वर जो तब मेरे साथ

आकाशवाणी इलाहाबाद में थे। इसके पहले भी डी मेलो एक अन्य प्रोग्राम के सिलसिले में इलाहाबाद आये थे। तब भी उन्हें पता चला था कि मैं उस विषय पर एक डाकूमेन्टरी बना चुका हूँ। इस बार मिलते उन्होंने छूटते ही कहा—"क्या बात है वर्मा हर बार जब कोई विषय उठाता हूँ तो पता चलता है कि इलाहाबाद में तुम पहले ही उस पर मुँह मार चुके हो।" मैंने हँसकर उन्हें स्टूडियो में चलने का न्यौता दिया जहाँ उन्हें मैंने उस कार्यक्रम की विशिष्ट रिर्काडिंग सुनवायी जिसका खास आकर्षण था, हिमांचल की गोद में देश के सबसे आखिरी गाँव की संस्कृति। वहाँ के लोगों का रहन-सहन, उनके रीति-रिवाज उनका गाना बजाना—उनके इष्टदेव ढोल कीपूजा—छोटे छोटे बिल जैसे घरों में रहना और सर्दियों में नीचे भाग आना। डी मेलो ने मुझसे उस जगह का पूरा जुगराफ़िया समझा और वे स्वयं वहाँ गये। मैंने जैसे पहले कहा है वे तमाम जानकारियाँ बटोरते थे लेकिन उनका सम्पादन वे इतनी कुशलता से करते थे कि वे स्वयं ही अपनी कमाई हुई पूँजी को नकार देते थे। वे भारतीय खेलों में गहरी दिलचस्पी रखते थे। उस पर भी वे विशेषज्ञ की तरह कमेन्ट्री करते थे। ऐसी बहुमुखी प्रतिभा के धनी अब ऑल इंडिया रेडियो में कहाँ बचे हैं ?

□□

और आखिरकार

यह किताब छप ही रही थी कि देश में आम चुनाव का ऐलान (१९८९) हो गया। चुनाव हुआ और ऐसा हुस्ने-इत्तिफ़ाक़ हुआ कि केन्द्र की सरकार बदल गयी। पुराने कलंक मलमल कर धोने की प्रक्रिया शुरु हो गयी। मीडिया की—रेडियो और टी० वी० की मार से विपक्ष जितना संत्रस्त हो चुका था, उस भयावह स्थिति से बचने के लिए अब कोई भी राजनैतिक दल अपने को समर्थ नहीं पा रहा था। अतः लोकसभा के पहले ही सत्र में आकाशवाणी और टी. वी. को एक स्वायत्त निगम—'प्रसार भारती' के नाम से अभिहित करके सरकार की जकड़बन्दी से मुक्त करने का प्रयास शुरू हुआ।

विगत २९ दिसम्बर १९८९ को नई सरकार ने लोकसभा में घोषणा की कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए वह प्रसार भारती निगम की स्थापना प्रस्तुत विधेयक के द्वारा करेगी। इस निगम के रेडियो और दूरदर्शन दो अंग रहेंगे। सरकारी नियंत्रण से वे आज़ाद रहेंगे। इसका गठन और निर्देशन एक बोर्ड द्वारा होगा। उसका एक संचालक मण्डल भी होगा जिसमें देश के सांस्कृतिक जगत की मानी जानी-हस्तियाँ सदस्य होंगी। प्रसार भारती के कार्यक्रमों की प्रामाणिकता और विश्वसनीयता अक्षुण्ण रहेगी। प्रसारण के यही दो मूलभूत आधार रहे हैं। यह निगम विधिसम्मत होगा और उच्चाधिकारों से भी संयुक्त होगा। यह अपनी कार्रवाई के लिए संसद के प्रति जिम्मेदार होगा। निगम के आमदनी के मुख्य साधन विज्ञापन होंगे। सभी कर्मचारियों को अपने काम में श्रेष्ठता

प्राप्त करने का पूरा मौका मिलेगा लेकिन ऐसे तत्वों का कोई स्थान नहीं होगा जो रचनात्मक योगदान नहीं कर सकेंगे। हर प्रकार से इस मीडिया के 'दुरुपयोग' को रोकने की कोशिश की जाएगी।

इस प्रकार यदि घोषणा पत्रों के अनुसार समस्त राजनीतिक दलों ने अपनी विवशताओं को समझते हुए ईमानदारी बरती तो निश्चित ही देश में प्रसार माध्यमों में एक नई क्रांति का श्रीगणेश होगा। प्रसारण की दृष्टि बदलेगी। केवल सरकार या शासनाध्यक्ष की छवि बार-बार उभारने के बजाय देश की उन राष्ट्रीय धाराओं का महत्वपूर्ण संयोजन होगा जो हमारी मूलभूत अस्मिता को अनेक रूपों में रेखांकित करती रहती हैं। उस अविच्छिन्न प्रवाह से जुड़कर ही हमें राष्ट्रीय एकता का सही बोध हो सकता है। भारतीय जीवन पद्धति, दर्शन, विचार, संस्कृति और आधुनिक जीवन की नक़लची विसंगतियों को प्रसारण की विधा से जितना ही प्रखर रूप में उजागर किया जाएगा उतना ही प्रसार भारती दूरगामी लक्ष्यों को प्राप्त करेगा। आपात्कालीन स्थितियों को छोड़कर आकाशवाणी और दूरदर्शन को तात्कालिक उद्देश्यों के लिए जितना कम इस्तेमाल किया जाएगा उतनी ही उसकी विश्वसनीयता बढ़ेगी। ऐसे माध्यमों का लोभ प्राय: शासक या प्रभावकारी वर्ग को केवल तात्कालिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ही होता है। थोड़ी दूर तक सफलता मिलने के बाद ये तात्कालिक उद्देश्य अपना खोटापन सिद्ध करने लगते हैं और बस वहीं वह प्रभावकारी वर्ग श्रोता या दर्शक के मानस को समझने में धोखा खा जाता है।

स्वायत्तता अपने में कोई साध्य नहीं है। वह एक महत्वपूर्ण साधन है किन्हीं स्वप्नों, आदर्शों और संकल्पों को मूर्तिमान करने का। हमें आखिर आज़ादी किसलिए चाहिए? यह बात इस माध्यम को इस्तेमाल करने वालों के मन में जब तक साफ़ नहीं रहेगी तब तक वे विधिवत् आजाद रहकर भी मानसिक गुलामी में जकड़े ही रहेंगे। हमें राष्ट्रीयता और 'सरकार के प्रति वफ़ादारी' का भेद समझना होगा। इस माध्यम से हम किस तरह के प्रोग्राम जनमानस के लिए प्रक्षेपित करते हैं—उनसे हम किस दूरगामी प्रभाव की कल्पना करते हैं और किस स्वतंत्र-चेता भारतीय मानस को विश्व नागरिक के रूप में स्थापित करते हैं—यह प्रसारण करने वाले कार्यकर्त्ता को बिल्कुल स्पष्ट रहना चाहिए। इसके लिए ऐसे दक्ष कर्मचारियों का चुनाव होना चाहिए जिनके पास

अच्छी सांस्कृतिक पूँजी की पृष्ठभूमि है। ऐसे ही लोग अपने माध्यम को सार्थक बना सकते हैं। हो सकता है कि इन कर्मचारियों की रचनात्मक मनोभूमि ऐसी अधकचरी, अपरिपक्व या महाशून्य हो जो किसी तरह के सार्थक कार्यक्रम न बना सकें। वे सम्भवत: विधि सम्मत कोई दंडनीय अपराध भी नहीं कर रहे होते हैं। परन्तु ऐसे लोग जो विशेष प्रभावों से या अपनी जातिगत विशेषताओं के कारण निर्णय के उच्चाधिकार प्राप्त कर लेते हैं और सर्जनात्मकता से विमुख ही रहते हैं, वे सच पूछिए तो ऐसे संस्थानों के लिए सर्वथा घातक, अनुपयुक्त और अशुभ हैं। उनसे बचना ही इस स्वायत्तता का एक बहुत बड़ा जोखम होगा।

प्रसार भारती में यदि संकल्प किए हुए लक्ष्य को प्राप्त करने की दूरदर्शिता बनी रहती है तो निश्चित रूप से वे जो कल्पनाशील ढंग से देश की पुनर्रचना के स्वप्न देखते हैं और तदनुसार प्रोग्राम बनाते हैं उन्हें ही प्राथमिकता और वरीयता देनी होगी। उनका प्रबन्ध करने वाले प्रशासनिक कर्मचारी या उस कार्यक्रम को तैयार करने वाले तकनीकी इंजीनियर विशेषज्ञ उनके ऊपर किसी भी तरह से हावी न होने पावें, यह भी निगम की स्वायत्तता का अत्यन्त महत्वपूर्ण अंश है। उपकरण जुटाने वाले तकनीकी विशेषज्ञ इंजीनियर को उनकी हैसियत के अनुसार सुविधाएँ और तनख्वाहें दी जा सकती हैं लेकिन कार्यक्रमों के संचालन का दायित्व उनके ऊपर सामान्यत: नहीं छोड़ा जाना चाहिए। माध्यम के अनुरूप कला और विज्ञान का सही तालमेल इस स्वयत्तता में बिठाना होगा।

'और आगे-आगे देखिए होता है क्या....?'

□□

कुंभ मेला : शोभा यात्रा का रेडियो वर्णन

संगम प्रयाग : अस्थि विसर्जन (पं. नेहरू) का रेडियो वर्णन

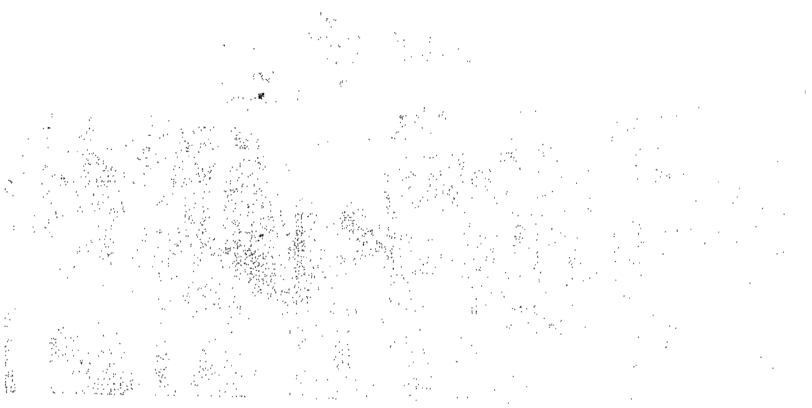

संगम प्रयाग : अस्थिकलश यात्रा (पं. नेहरू) रेडियो कमेंट्री

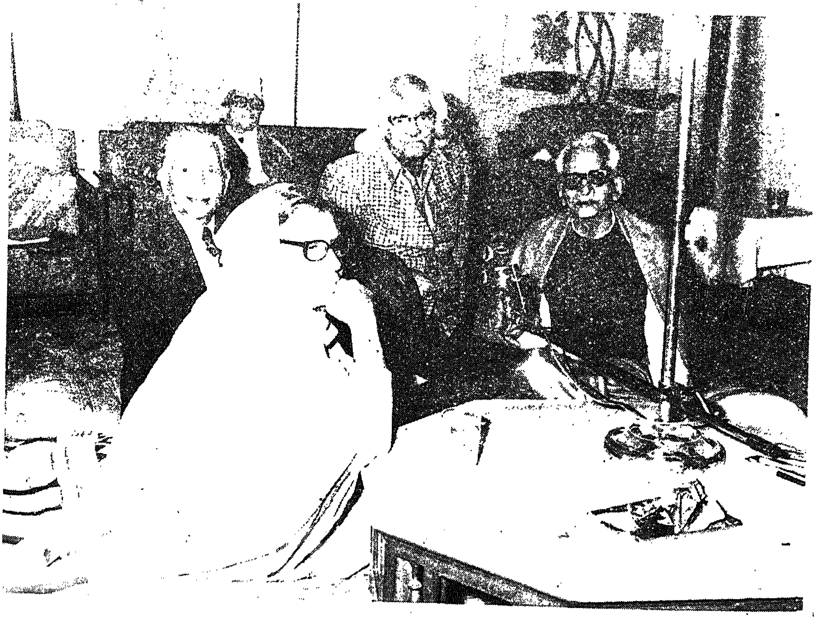

सर्वश्री महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा, सुमित्रा नंदन पंत, जैनेन्द्र कुमार (पीछे उपेन्द्र नाथ अश्क)

कविगोष्ठी : रामकुमार वर्मा, कोकिल, पंत, बच्चन, गिरधर गोपाल

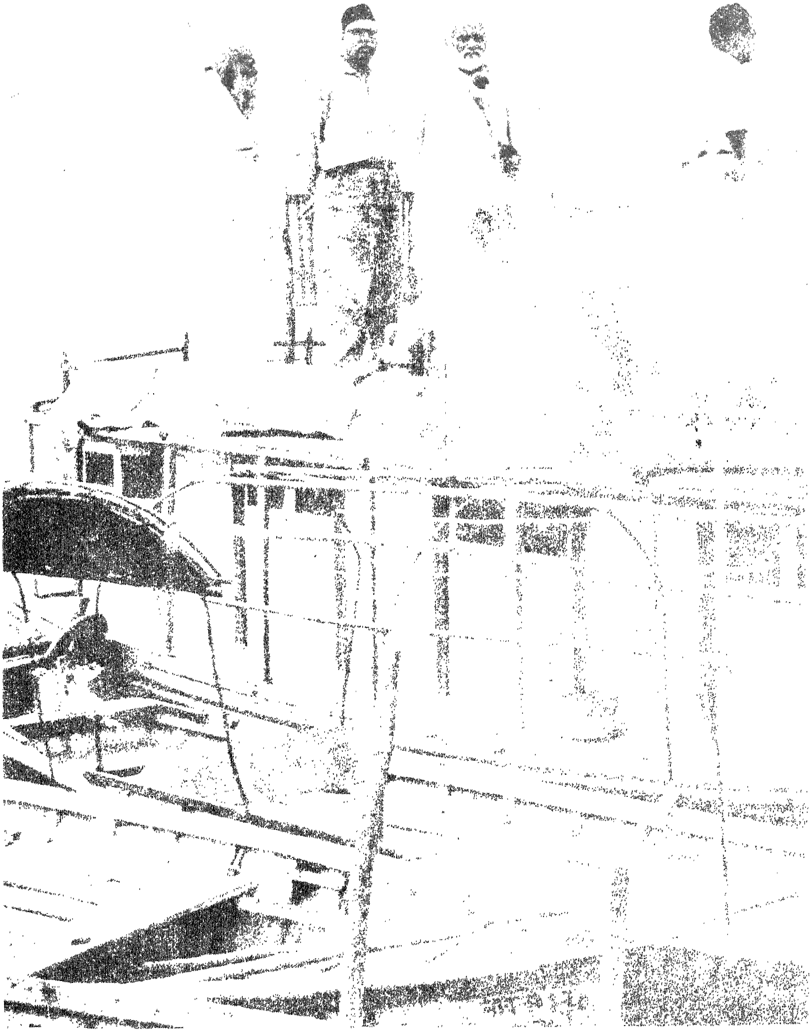

कुंभ मेला रनिंग कमेंट्री : कमेंट्री करते हुये पं० विश्वम्भरनाथ पाण्डेय ।

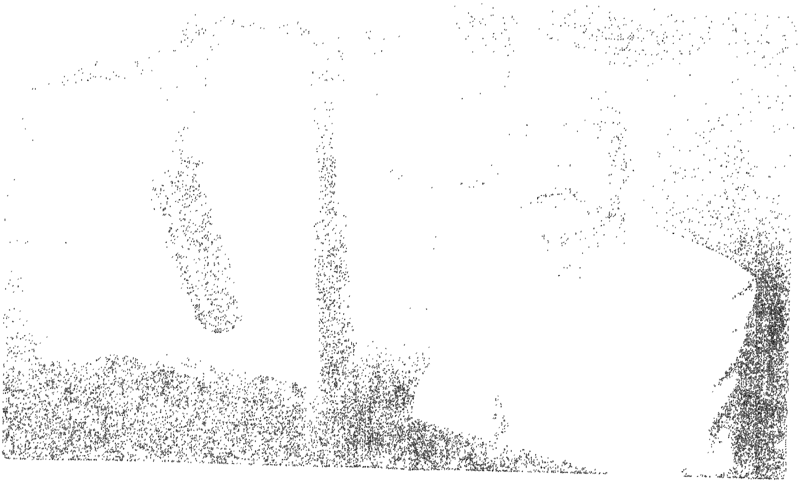

राष्ट्रकवि [illegible] गुप्त का काव्य पाठ

रामकथा वार्ता : डा० कामिल बुल्के

रंडियो ओबी.: ... डा०. धीरेन्द्र वर्मा, ... (पीछे
धर्मवीर भारती, ... , डा. जगदीश गुप्त, ... , नर्मदेश्वर
चतुर्वेदी आदि ।

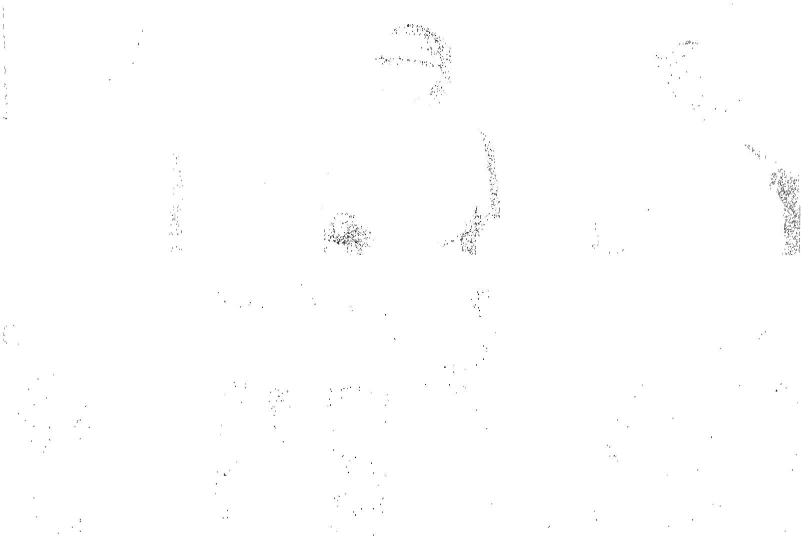

भेंटवार्ता : श्री रघुपति सहाय फिराक़ से

रेडियो गाँव में : केशव चन्द्र वर्मा, द्वारिका नाथ व्यास आदि (भेंट वार्ता और कमेंट्री)

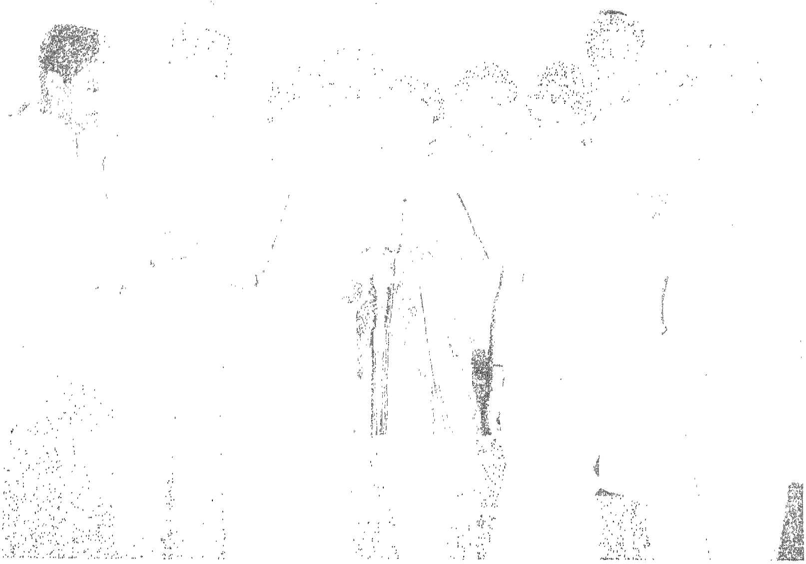

रेडियो नाटक : अभिनेताओं के साथ

[illegible] अंकन प्रकाश : [illegible], [illegible], शांति मेहरोत्रा,

[illegible] माणिक वर्मा से भेंट : केशव चन्द्र वर्मा द्वारा

कवि सम्मेलन : [illegible] श्री हरि, अजित कुमार आदि)

कवि सम्मेलन : शंभूनाथ सिंह, रमानाथ अवस्थी, केदार नाथ सिंह, राज नारायण बिसारिया, गोपेश, क्षेम, ओंकार नाथ, नीरज, पंत, गिरधर गोपाल, भारती, सर्वेश्वर, भारत भूषण अग्रवाल, गिरिजा कुमार माथुर।

शहनाई वादन : उस्ताद [illegible] खाँ और साथी

रेडियो कंसर्ट : पं. रविशंकर (सितार वादन) [illegible] खान

काव्यपाठ : सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, विपिन अग्रवाल तथा जगदीश गुप्त आदि।

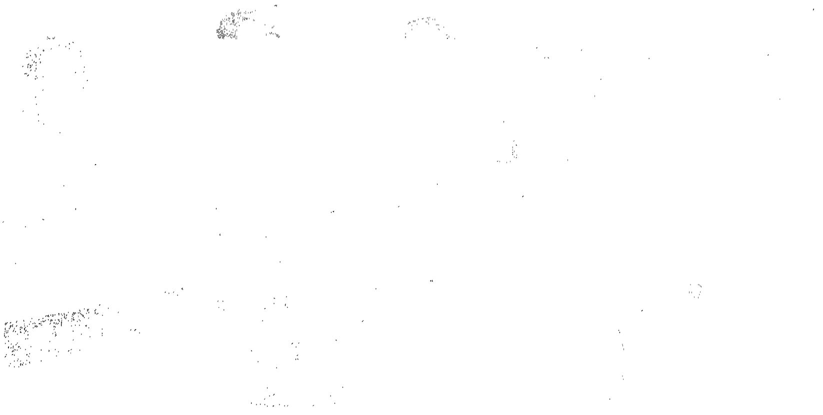

बदलते मूल्यों पर बहस : बच्चन, पंत, [illegible] वर्मा, इलाचंद्र जोशी, अमृत लाल नागर

रेडियो सलाहकार समिति की बैठक . रेडियो अधिकारी तथा सदस्यगण।

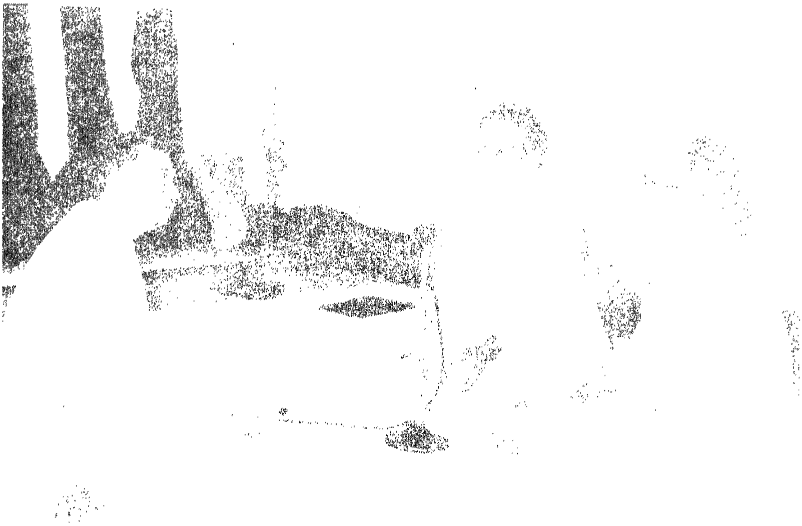

नई कविता पर बातचीत : भगवती चरण वर्मा, अज्ञेय, बालकृष्ण राव

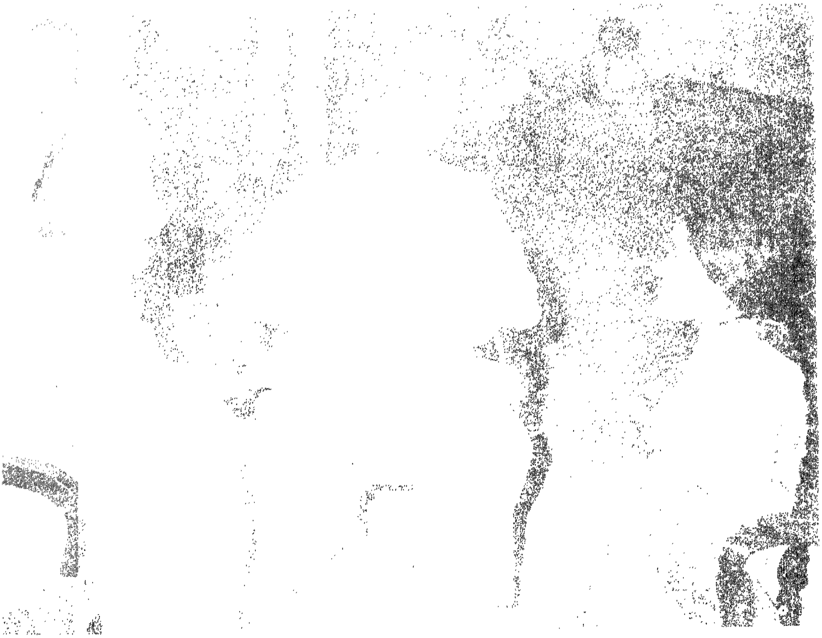

अंतरंग बातचीत : उस्ताद [illegible] खां के [illegible] चन्द्र वर्मा और हीरा चड्ढा

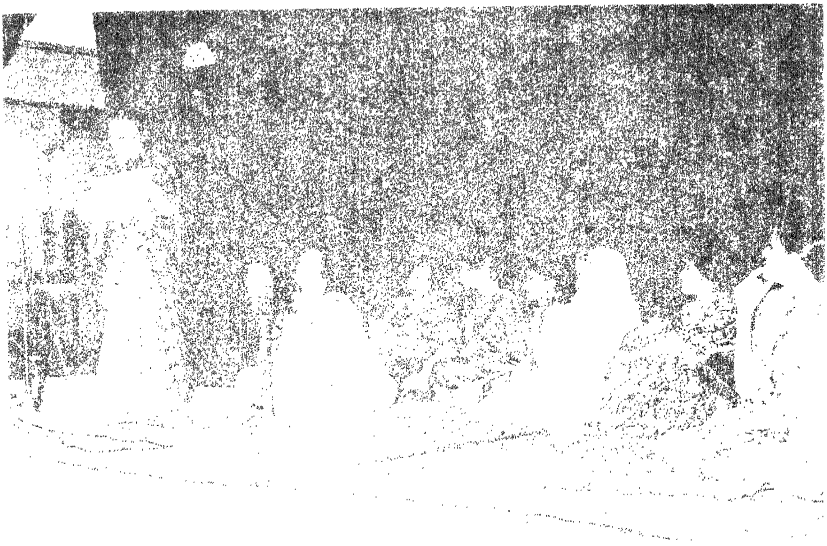

महिला प्रोग्राम : स्टेज पर : बोलते हुए शांति मेहरोत्रा, बैठी हुई रजिया [illegible],
कंचन साही, सरोजिनी वर्मा, आशा सेठ आदि ।

हास्य गोष्ठी : केशव, चोंच, बेधड़क, बेढब, भइया जी बनारसी, कौस्तुभ बनारसी

पैरोडी सम्मेलन : पंत, अश्क, बेढब, चोंच, , ओंकार, साही, भारती, केशव, सर्वेश्वर, बिसारिया अमृत लाल नागर आदि ।

ग्रामीण लोकसंगीत कार्यक्रम : [illegible]भद्र दीक्षित, उमा वर्मा आदि।

रेडियो [illegible] (गायन) पं. [illegible] (तबला वादन)

बच्चों का प्रोग्राम : मेरा बचपन : पं. विश्वम्भर नाथ पांडे

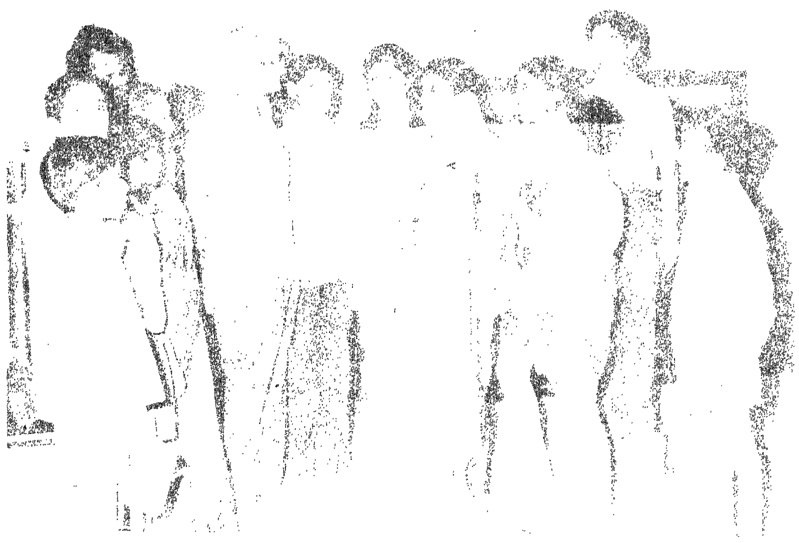

बच्चों का प्रोग्राम : मेरा बचपन : पं. [illegible] पंत

शब्द की साख

(भारत में रेडियो प्रसारण)

केशवचन्द्र वर्मा

प्रदीपन

प्रकाशन एकांश इलाहाबाद-२

वितरक :

लोकभारती प्रकाशन

१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-१